वैदिक वाङ्मय का इतिहास

(प्रथम भाग - द्वितीय खण्ड : वेदों के भाष्यकार)

पं. भगवद्दत

प्रथम संस्करण

सन् 1931 ई.

श्रीमद्दयानन्द महाविद्यालयसंस्कृतग्रन्थमाला सं० १२

❀ ओम् ❀

वैदिक वाङ्मय का इतिहास ।

भाग प्रथम खण्ड द्वितीय

वेदों के भाष्यकार

लेखक

भगवद्दत्त

अध्यापक दयानन्द महाविद्यालय,

लाहौर ।

—

आर्य्य सम्वत् १९६०८५३०३१ ।

विक्रम सं० १९८८ । सन् १९३१ ई० ।

दयानन्दाब्द १०७

प्रथम संस्करण ५०० प्रति मूल्य ४) रु०

प्राक्कथन

इस इतिहास के द्वितीय भाग को प्रकाशित हुए आज पूरे चार वर्ष व्यतीत हुए हैं। इन चार वर्षों में मेरे देश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में भूतलाकाश का अन्तर हो गया है। निर्बल जनता में बल का सञ्चार हो रहा है। ऐसे दिनों में, ऐसे विचित्र आन्दोलन के दिनों में, अपने चित्त को इन प्रभावों से परे रखना या तो देवताओं का काम है या नरपिशाचों का। नहीं, नहीं, अनेक योगिराजों के आसन भी इस अहिंसा के संग्राम ने हिला दिए हैं। ऐसी परिस्थिति में कौन सा देशभक्त है जिसका मन उद्विग्न न रहता हो। पर इतिहास का लिखना एकान्त चाहता है, मन की समता चाहता है और विचार की गम्भीरता भी चाहता है। ये सब बातें इन दिनों में सुलभ नहीं। पर फिर भी मैंने अपने कमरे में बन्द होकर प्राचीन ग्रन्थों के पढ़ने में पर्याप्त समय लगाया है। उसी का फलरूप वैदिक वाङ्मय के इतिहास के प्रथम भाग का यह द्वितीय खण्ड है।

चार वर्ष पहले मेरा अनुमान था कि प्रथम भाग में वेदों के विषयों का, वेद-शाखाओं का और वेद-भाष्यकारों का वर्णन हो सकेगा, परन्तु सामग्री के एकत्र होने पर मुझे पता लगा कि वेद-भाष्यकारों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन ही एक भाग में लिखा जा सकता है, अतः प्रथम भाग के दो खण्ड करने ही मैंने उपयुक्त समझे।

सन् १६२८ के नवम्बर मास में ओरिएण्टल कान्फरेंस का पञ्चम सम्मेलन लाहौर में हुआ था। उस में मैंने स्कन्द, उद्गीथ और वेङ्कटमाधव आदि के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा था। उस लेख का संक्षेप पहले मुद्रित हो चुका था। उक्त कान्फरेंस के अवसर पर मद्रास यूनिवर्सिटी के अध्यापक प्रो॰ कुहनन् राज मेरे अतिथि थे। आश्चर्य की बात है कि उनका लेख भी इसी विषय पर था। हमने तीन दिन तक इस विषय पर विशेष विचार-परिवर्तन

किया। तब मेरा यह निश्चय हो गया था कि अपने इतिहास का वेद-भाष्यकारों का भाग पहले निकालना चाहिए। तभी से मैं ने इस का लिखना आरम्भ कर दिया। इस विषय पर मुझसे पूर्व किसी विद्वान् ने क्रमबद्ध रूप से अपनी लेखनी नहीं उठाई। अतः यह भाग एक प्रकार से अनेक नवीन बातों का संग्रह समझना चाहिए। मैंने इसमें भाष्यकारों के काल के विषय में अधिक लिखने का यत्न किया है। यदि इन भाष्यकारों का काल-क्रम निश्चित हो जाए, तो उनके मन्तव्यों का अधिक उत्तम अध्ययन हो सकेगा। उनके मन्तव्यों पर यहां अधिक नहीं लिखा गया।

इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे वेद-भाष्यकारों का उल्लेख किया गया है, जिनके अस्तित्व का ज्ञान भी बहुत कम लोगों को था। आशा है अब विद्वान् लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करेंगे।

अनेक संस्कृत प्रमाणों का जो अर्थ लिखा गया है, वह भावार्थ ही समझना चाहिए। अक्षरार्थ करने पर बल नहीं दिया गया। इसका अभिप्राय यही है कि थोड़ी सी संस्कृत जानने वाले भी इस ग्रन्थ से पूर्ण लाभ उठा सकें। मैंने इस ग्रन्थ का आर्यभाषा में ही लिखना श्रेयस्कर समझा है। इसी में लिखे गए विचार मेरे देश में चिरस्थायी होंगे।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के जो पाठ यहां उद्धृत किए गए हैं, उनके शोधन का यत्न नहीं किया गया। उनकी शुद्धि-अशुद्धि पाठक स्वयं देख सकते हैं।

कई भाष्य-ग्रन्थों के वर्णन मैं ने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के आधार पर ही लिखे हैं। उनके हस्तलेखों का मंगवाना महा कठिन काम है। कई-कई वार पत्र लिखने पर भी वे ग्रन्थ हमें नहीं मिल सके। यह कठिनाई रियासतों के सम्बन्ध में विशेष रूप से सामने आती है। ईश्वर जाने इन रियासतों के कार्यकर्ताओं को इस लोकहित के काम में सहायता करने की बुद्धि कब आएगी। ईश्वर इन पर दया करे।

मेरे इस इतिहास के द्वितीय भाग के सम्बन्ध में कतिपय संस्कृतज्ञों ने अपनी सम्मतियां लिखी हैं। उनमें से कई एक ने मेरे लेख की प्रशंसा की है,

और कई एक ने इसके कुछ भावों के विरुद्ध भी लिखा है। मैं उन सबका ही धन्यवाद करता हूं। जिन विद्वानों ने मेरे विरुद्ध लिखा है, उन्होंने अपनी सम्मतिमात्र का प्रकाश किया है, सप्रमाण कुछ भी नहीं लिखा। मेरी ऐसे महानुभावों से सानुरोध प्रार्थना है कि वे उदार हृदय से मेरे लेख के विरुद्ध सप्रमाण लिखें। तब मैं उनके औचित्यानौचित्य पर विचार करूंगा। प्रमाण-रहित सम्मति को मैं कल्पना की कोटि में मानता हूं और कल्पना का इतिहास में प्रमाण नहीं है। मैंने जो कुछ लिखा है, वह परीक्षित-प्रमाणों के आधार पर लिखा है। अतः मेरे भावी समालोचक भी इस बात का ध्यान रखें। फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूं। अपनी भूल को स्वीकार करने में मैं सदा प्रस्तुत रहता हूं।

इस ग्रन्थ के लिखने में डा० कुहनन् राज ने बड़ी सहायता दी है। कई ग्रन्थों के हस्तलेख मेरा पत्र पहुंचते ही वे तत्काल मेरे पास भेजते रहे हैं। अन्य विषयों पर भी पत्र-व्यवहार द्वारा हम अपनी सम्मति मिलाते रहे हैं। मित्रवर डा० लक्ष्मण स्वरूप स्कन्द–महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका का प्रत्येक फारम छपते ही मेरे पास भेज देते थे। डा० मङ्गलदेव शास्त्री, पं० चारुदेव शास्त्री एम्० ए०, पं० ब्रह्मदत्त, ब्रह्मचारी युधिष्ठिर, पं० ईश्वरचन्द्र और पं० अरणा शास्त्री वारे ने भी समय-समय पर बड़ी सहायता दी है। इन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूं। पं० रामलाल शास्त्री ने पदपाठों की तुलना में सहायता की है, अतः वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। पञ्जाब यूनिवर्सिटी-पुस्तकालय से पुस्तकें और हस्तलिखित ग्रन्थ भेजने के लिए डा० स्वरूप, ला० लब्भूराम प्रधान पुस्तकाध्यक्ष और पं० बालासहाय शास्त्री संरक्षक-संस्कृत-विभाग की अत्यन्त सहायता मिलती रही है, अतः मैं इनका भी धन्यवाद करता हूं। प्रूफ संशोधन का काम पं० शुचिव्रत एम० ए० शास्त्री और मेरे विभाग के पं० हंसराज, पं० प्रेमनिधि शास्त्री, पं० पीताम्बर शास्त्री, और पं० विजयानन्द शास्त्री ने किया है। मैं इन महाशयों का भी धन्यवाद करता हूं।

इस ग्रन्थ के लिखे जाने में सबसे बड़ी सहायता दयानन्द-कालेज की प्रबन्ध-कर्तृ-सभा की है। जिस उदारता से यह सभा प्राचीन ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए

मुझे धन देती है, उसका कोई हिसाब नहीं। वैदिक-ग्रन्थों की वह विपुलराशि जो इस समय लालचन्द-पुस्तकालय में है, यदि मेरे पास न होती, तो यह ग्रन्थ लिखा ही न जा सकता। मेरे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री अब तक भी अलभ्य प्राचीन-वैदिक-ग्रन्थ मुझे भेज रहे हैं, अतः मैं उनका भी आभारी हूं।

मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा परिश्रम दूसरे विद्वानों को इस विषय में अधिक खोज के लिए प्रोत्साहित करेगा। यदि वे देवस्वामी का ऋग्वेदभाष्य और कुण्डिन तथा गुहदेव के तै० सं० भाष्य प्राप्त कर लें तो वैदिक-अध्ययन में आश्चर्यजनक सहायता मिलेगी।

परमात्मा करे, कि वेद का पवित्र अर्थ सब विद्वानों के हृदय में प्रकाशित हो। इत्यलम्।

१६ दिसम्बर, शनिवार
सन् १९३१

भगवद्दत्त

विषयसूची

काण्व संहिता के भाष्यकार

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार

रुद्राध्याय के भाष्यकार

तृतीय अध्याय । सामवेद के भाष्यकार

चतुर्थ अध्याय । अथर्ववेद का भाष्यकार

पञ्चम अध्याय । पदपाठकार

षष्ठ अध्याय । निरुक्तकार

सप्तम अध्याय । निघण्टु के भाष्यकार

अष्टम अध्याय । निरुक्त के भाष्यकार

——>०<——

ओम्

वैदिक वाङ्मय का इतिहास

भाग प्रथम

द्वितीय खण्ड

वेद-संहिताओं के भाष्यकार

ऋग्वेद के भाष्यकार

१—स्कन्दस्वामी (लगभग संवत् ६८७ । सन् ६३०)

ऋग्वेद के जितने भी भाष्यकारों का ज्ञान आज तक हमें हो चुका है, स्कन्दस्वामी उन सब में से प्राचीन है। सायण, देवराज, आत्मानन्द प्रभृति सब ही आचार्य उसे अपने अपने भाष्यों में उद्धृत करते आये हैं। स्कन्दस्वामी का काल अब सुनिश्चित रूप से जान लिया गया है। उस के काल का निश्चय किस प्रकार हुआ, इस का यहां लिख देना अनुचित न होगा।

स्कन्दस्वामी का काल कैसे ज्ञात हुआ।

सन् १९२८ मास अगस्त के आरम्भ में अवसर प्राप्त होने पर मैं काशी गया। वहां के क्वीन्स कालेज के सरस्वती भवन में एकत्र किये हुए हस्तलिखित-पुस्तक-संग्रह को देखने की चिरकाल से मेरी इच्छा थी। इसी अभिप्राय से समय समय पर मैं उस संग्रह के सूचीपत्र से देखने योग्य ग्रन्थों के नाम नोट करता रहता था। मेरे मित्र श्री पण्डित मङ्गल देव जी शास्त्री एम० ए० सन् १९२८ के कुछ पूर्व से ही उस पुस्तकालय के अध्यक्ष चले आ रहे हैं। उन्हीं की कृपा से मैंने कई दिन तक अपने मतलब के ग्रन्थ देखे।

एक दिन वे मेरे समीप बैठे थे। मैंने माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के हविर्यज्ञ अर्थात् प्रथम काण्ड पर हरिस्वामी भाष्य के मंगाने के लिये उन से कहा। इस भाष्य का यही एक हस्तलेख अब तक मेरी दृष्टि में आया है। ग्रन्थ

आने पर मैंने उस के अन्तिम पत्रे का पाठ आरम्भ किया और शास्त्री जी ने पैहले का। अन्तिम पंक्तियों में हरिस्वामी ने अपने काल का निर्देश किया है। इस का उल्लेख आगे होगा।

मैं अभी अपने चित्त में निर्णय कर ही रहा था कि शतपथ ब्राह्मण के सायण भाष्य के प्रथम काण्ड के अन्त में जो हरिस्वामी के भाष्य का अंश छपा है वह इस भाष्य से मिलता है या नहीं, जब मेरे मित्र ने सहर्ष मेरा ध्यान उस के भूमिकात्मक श्लोकों की ओर दिलाया। तब मेरी प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा जब उन श्लोकों में मुझे ऋग्वेद भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी के काल का पता मिल गया।

इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ० ३६, ४० पर मैंने हरिस्वामी के काल विषय में कुछ लिखा था। तब तक हरिस्वामी का ठीक काल अज्ञात था। फिर भी मैंने लिखा था कि—

"आचार्य हरिस्वामी दशम शताब्दी से पूर्व का तो अवश्य ही है।"

अब तो हरिस्वामी का काल भी ठीक जान लिया गया है और उसी के आधार पर आचार्य स्कन्दस्वामी का काल भी ज्ञात हो गया है। इस सम्बन्ध में हरिस्वामी के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

नागस्वामी तत्र.........श्रीगुहस्वामिनन्दनः।
तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः ॥५॥
तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्।
त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥६॥
यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्।
व्याख्या[ं] कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥७॥

अर्थात् श्रीगुहस्वामी का पौत्र और नागस्वामी का पुत्र तथा ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी का शिष्य हरिस्वामी है।

पुनः हरिस्वामी लिखता है—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै।
चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

अर्थात् जब कलि के ३७४० वर्ष हो चुके थे तब यह भाष्य रचा गया।

कलि संवत् ३१०२ पूर्व ईसा में आरम्भ हुआ था। इस लिये हरिस्वामी ने ६३८ सन् में शतपथ के प्रथम काण्ड का भाष्य किया। उस समय आचार्य स्कन्दस्वामी अपना ऋग्वेद भाष्य कर चुका था। इस से प्रतीत होता है कि स्कन्द लग भग सन् ६३० में अपना भाष्य कर रहा था।

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने सन् ५३८ ई० में हरिस्वामी का भाष्य करना लिखा है।[१] वे ३२०२ पूर्व ईसा से कलि संवत् का आरम्भ मानते हैं। कलि संवत् का आरम्भ ३२०२ पूर्व ईसा में हुआ हो, ऐसा किसी अन्य विद्वान् का मत नहीं। अतः स्कन्द के ऋग्भाष्य करने का काल ६३० सन् ईस्वी ही ठीक है।

पण्डित साम्बशिव शास्त्री[२] ने भट्टिकाव्य के टीकाकार गोविन्दस्वामिसूनु हरिस्वामी की समानता का शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी से जो अनुमान किया है, वह सत्य नहीं है। शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी के पिता का नाम नागस्वामी था। इस से प्रतीत होता है कि भट्टिकाव्य के टीकाकार के सम्बन्ध में यदि पं० साम्बशिव शास्त्री का लेख ठीक है, तो हरिस्वामी नाम के दो आचार्य हो चुके हैं।

परन्तु भट्टिकाव्य का जो संस्करण निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से सन् १६०० में निकला था, उसके अन्त में टीकाकार का नाम जयमङ्गल आदि और ग्रन्थकार का नाम श्रीस्वामिसूनु कवि भट्टि लिखा है। इसलिये पं० साम्बशिव शास्त्री के लेख के सुनिश्चित होने में अभी सन्देह है। सटीक भट्टिकाव्य के जिस हस्तलेख का प्रमाण पं० साम्बशिव शास्त्री ने दिया है, उस की तुलना अन्य अनेक कोशों से होनी चाहिये।

स्कन्द-काल के जानने के लिये अन्य प्रमाण।

दूसरे प्रमाण, जिन से स्कन्द के काल का ज्ञान होता है, निम्नलिखित हैं—

(क) १४वीं शताब्दी के आरम्भ का देवराज यज्वा अपने निघण्टुभाष्य में स्थान स्थान पर स्कन्दस्वामी को उद्धृत करता है।[३]

---

१ Indices and Appendices to the Nirukta, Introduction p. 29.

२ ऋक्संहिता स्कन्दभाष्यसहिता। संस्कृत भूमिका पृ० ३।

३ देखो निघण्टुभाष्य पृ० ७, १२, १३, १५, २७ इत्यादि।

(ख) १३वीं शताब्दी का केशवस्वामी अपने नानार्थार्णवसंक्षेप भाग १, पृ० ८ पर लिखता है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते ॥[1]

अर्थात् दोनों लिङ्गों में गौ शब्द का घोड़ा अर्थ है। इसी प्रकार अनेक ऋचाओं में स्कन्दस्वामी ने घोड़ा अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋ० १।८४।१६॥ में यही अर्थ करता है।

(ग) १२वीं शताब्दी अथवा इस से कुछ पूर्व का वेङ्कटमाधव लिखता है—

भाष्याणि वैदिकान्याहुरार्यावर्तनिवासिनः।
क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः ॥८॥
स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम् ॥६॥[2]

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ ने मिल कर एक ऋग्वेद भाष्य रचा।

स्कन्दभाष्य पहले भागों पर, नारायणभाष्य मध्य भाग पर और उद्गीथ-भाष्य अन्तिम भाग पर है।

(घ) लगभग ११वीं शताब्दी का उपाध्याय कर्क अपने कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य ८।१८१॥ में हरिस्वामी को उद्धृत करता है। आचार्य स्कन्द-स्वामी हरिस्वामी का गुरु था। इसलिये स्कन्दस्वामी भी दशम शताब्दी से पूर्व का अवश्य ही होगा।

यदि ऋग्वेदीय सम्प्रदाय के अधिक ग्रन्थ मिल जायें, तो उन से हरि-स्वामी के पूर्वोक्त कथन की सत्यता अवश्य प्रमाणित होगी। वस्तुतः हरिस्वामी का अपना लेख ही उस का काल निर्धारित करने के लिये पर्याप्त है। अतएव इस

---

१ सन् १६२८ की ओरिएण्टल कान्फ्रेंस में इस प्रमाण की ओर मैंने विद्वानों का ध्यान दिलाया था।

२ ऋगर्थदीपिका, अष्टक = अध्याय ८ की भूमिका।

बात के स्वीकार करने में अणुमात्र भी सन्देह न होना चाहिये कि आचार्य स्कन्दस्वामी सन् ६३० के समीप ही अपना ऋग्वेदभाष्य कर रहा होगा, या कर चुका होगा।

ऋग्वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी और निरुक्तटीकाकार स्कन्द स्वामी।

उप प्रयोभिरागतम् इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्वामिना प्रय इत्यन्ननाम इत्युच्यते तथा च अदिति श्रव इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये श्रव इत्यन्ननाम इति स्पष्टमुच्यते।२।७॥

देवराज यज्वा के इस लेख से हम जानते हैं कि ऋग्वेदभाष्यकार और निरुक्त टीकाकार अथवा वृत्तिकार स्कन्द दोनों एक ही हैं। परन्तु सम्प्राप्त निरुक्त-भाष्य-टीका उसी प्राचीन स्कन्द की है, इसमें डा० लक्ष्मणस्वरूप को सन्देह है। वे लिखते हैं—

In my opinion, this commentary is the composition of Mahesvara.........Mahesvara's commentary is a tika on the bhasya of Skanda. This is supported by the title of the commentary, namely 'The Nirukta-bhasya-tika, which may be explained as the tika on the Nirukta-bhasya.

अर्थात् प्रस्तु वृत्ति (निरुक्त-भाष्य-टीका) महेश्वर की बनाई हुई है। इस के नाम से ही स्पष्ट है कि यह स्कन्दभाष्य की महेश्वरविरचित टीका है। इस प्रतिज्ञा के प्रमाणभूत चार हेतु उन्होंने दिये हैं। वे ये हैं—

(१) कुछ अध्यायों के समाप्ति-वाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं।

(२) टीका का नाम निरुक्त-भाष्य-टीका है।

(३) देवराज यज्वा ने स्कन्द के जो प्रमाण दिये हैं, उन में से एक की तुलना स्पष्ट बताती है कि महेश्वर की वृत्ति स्कन्दभाष्य की टीका है।

(४) उर्वी, अदिति, इला, अध्वरम्, स्वः, साध्याः, वासरम्, अश्मा, अहिः इन शब्दों का स्कन्दस्वामिकृत व्याख्यान जो देवराज के निघण्टुभाष्य में मिलता है, इस मुद्रित निरुक्त-भाष्य-टीका में नहीं मिलता।

हमारी समझ में इन हेतुओं से उक्त परिणाम नहीं निकल सकता। क्योंकि—

(१) यदि कुछ अध्यायों के समाप्ति-वाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं, तो दूसरे, जो गणना में पर्याप्त हैं, टीका को स्कन्दस्वामिप्रणीत भी बताते हैं। और दो अध्याय-समाप्ति-वाक्य शबरस्वामी[१] को टीका का कर्ता बताते हैं। अतः यह हेतु डा० महोदय का पक्ष सिद्ध नहीं करता।

(२) डा० लक्ष्मणस्वरूप का दूसरा हेतु भी अति निर्बल है। इसलिये अब निरुक्त-भाष्य-टीका नाम पर विचार करना चाहिये। निरुक्त की दुर्गाचार्यवृत्ति के पढ़ने वाले जानते हैं कि दुर्ग यास्क को भाष्यकार कहता है।[२] ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत निरुक्त टीका में भी मूल निरुक्त को भाष्य लिखा है—

तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया गौर्ग्मा इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति समाम्नायः समाम्नातः इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम्।[3]

और यास्क को निरन्तर भाष्यकार कहा गया है।[४] अतएव निरुक्तभाष्य-टीका का अर्थ है, निरुक्त रूपी जो निघण्टुभाष्य है उस की टीका।

मूल निरुक्त के कई ऐसे हस्तलेख हैं, जिन के अध्यायों की समाप्ति पर आज तक इस निरुक्त को निरुक्तभाष्य कहा गया है।[५] निश्चय ही प्राचीन ग्रन्थकार निरुक्त शब्द को निघण्टु का द्योतक मानते थे और इसलिये निघण्टुभाष्य को निरुक्तभाष्य भी कह देते थे।[६] स्कन्द महेश्वर का जो प्रमाण पूर्व दिया

१ देखो त० र० चिन्तामणि का लेख, Madras Journal of Oriental Research. Vol. I. No. 1, p. 85.

२ देखो आनन्दाश्रम संस्करण, पृ० २१७, ३०३, ३४०, ४०९, इत्यादि।

३ डा० लक्ष्मणस्वरूप का संस्करण, पृ० ४।

४ ,, ,, ,, ,, पृ० ५, १५, ५८, ६२ इत्यादि।

५ देखो लालचन्द पुस्तकालय के हस्तलेख संख्या ३७३८, ३८२३

६ इसी बात को भूल कर सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्त पाठ को, जिसे सायण अपने भाष्य में समाविष्ट करता है, सायणभाष्य के नाम से दिया है। देखो सत्यव्रत का निघण्टु भाष्य का संस्करण, पृ० १७९।

गया है, वहां भी निरुक्त के पहले पांच अध्यायों को निघण्टु कहा गया है । और आज कल के प्रथम अध्याय को षष्ठ कहा गया है ।

देवराज यज्वा इस भाव को और भी खोलता है, जब वह लिखता है—

आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः [निरुक्त २।२१ ॥] इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थः ।[1]

अर्थात् निरुक्त २।२१॥ पर स्कन्दस्वामी से उद्धरण ।

(३) डा० लक्ष्मणस्वरूप का तीसरा हेतु भी विचार करने पर सत्य नहीं ठहरता । देवराज यज्वा स्कन्द के पूरे वाक्य को उद्धृत नहीं करता, प्रत्युत उस में से उपयोगी भाग ले रहा है । और उस उपयोगी भाग को भी अपने प्रकार से ऊपर नीचे करता है । अन्य बीसियों स्थानों में देवराज का उद्धरण निरुक्त-भाष्य-टीका से सिवाय पाठान्तरों के सर्वथा मिलता है । देखो निघण्टुभाष्य २।१।७॥ और निरुक्त-भाष्य-टीका २।१३॥

[2]**अत्र स्कन्दस्वामी—व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति**[3] **कर्त्तरि सत**[4] **इति**[4] **कृतव्याख्यानम् । तद्धि**[5] **शुभमशुभं वा । वृणोति निबध्नाति** [महेश्वर—बध्नाति] **कर्त्तारम् । तथा च श्रुतिः–तं**[6] **विद्याकर्मणी समन्वारभेते**[7] **पूर्वप्रज्ञा चेति । इदमपीतरद् व्रतम्—गुडलवण-स्त्र्यादिविषयनिवृत्तिरूपं**[8] **कर्म । एतस्मादेव रूपसामान्यात् ।**

---

१ निघण्टुभाष्य १।१०।१८।१६॥

२ यह सारा पाठ दो नये कोशों की सहायता से शोधा गया है । स=सत्यव्रत सा० का संस्करण । द=दयानन्द कालेज का हस्तलेख, संख्या ५५८२। ब=बनारस क्वीन्स कालेज सं० १२।

३ स—वृणोति नास्ति ।

४ ब—सतरिति ।

५ स—तद् द्विविधम् । ब–तद्विधं ।

६ स—ते ।

७ स—समत्वारभते । द–समन्वारभे । ब–समन्वारभते ।

८ द—निवृत्तिकरूपं ।

प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते । वारयतीति सतः । निवृत्तिरूपो[1] हि सङ्कल्पः[2] [महेश्वर—**कल्पः**] । **तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्त्तमानं पुरुषं[3] वारयतीति सत इत्यन्येषां[4] पाठो ऽर्थश्च । व्रतमिति कर्म-नाम । निवृत्तिकर्म** [महेश्वर—**कर्मनाम**] **वारयतीति सत इति । व्रतं कर्मोच्यते । कस्मात् । वारयते** [महेश्वर—**वारयतेः**] **तद्धि सङ्कल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूपमग्निहोत्रादिकर्म प्रत्यवायं वारयतीति पुरुषः प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानश्च व्रतेनाभिसंबद्धः[5]** । [महेश्वर—**प्रकृतेनाभिसम्बन्धः**] **तेनाव्रतेन** [महेश्वर—**तेन व्रतेन**] **निवार्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्याद् हेतुकर्तृत्वेन विवक्षा[6] । भोजनमपि व्रतं क्षुदादिनिवारणात्** [महेश्वर—**क्षुदानि०**] ।

इतने लम्बे पाठ में सिवाय सात पाठान्तरों के अन्य कोई भेद नहीं है । वे पाठान्तर भी इसीलिये हैं कि देवराज और महेश्वर के ग्रन्थों के हस्तलेख अभी पर्याप्त संख्या में नहीं मिले । इस उद्धरण को देखकर कौन कह सकता है कि देवराज के पास निरुक्त का ठीक वैसा ही स्कन्दमहेश्वर भाष्य नहीं था, जैसा कि हमारे पास है ।

(४) डा० स्वरूप का चौथा हेतु भी ठीक नहीं ।[7] उर्वी शब्द का व्याख्यान नि० २।२६॥ पर, अदितिः का नि० ४।२२॥ पर, स्वः का नि० २।१४॥ पर और वासरम् का नि० २।२॥ पर, इसी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलते हैं । अश्मा शब्द पर देवराज स्वयं कहता है कि यह प्रमाण ऋग्वेद २।१२।३॥ के स्कन्द भाष्य से लिया गया है । इसी प्रकार अहिः शब्द पर उद्धृत स्कन्द का भाव भी ऋग्वेद

---

१ द—निवृत्तरूपो ।

२ द—सःकल्पः ।

३ द—अरुषं ।

४ स—नास्ति ।

५ स—सम्बन्धः ।

६ स—विवक्ष्यते ।

७ डा० राज ने भी डा० स्वरूप का कथन स्वयं निर्णय किए विना मान लिया है । देखो Proceedings Fifth Indian Oriental conference, P. 251.

१०।१३६।६॥ के भाष्य से लिया गया है। शेष रहे तीन शब्द—इला, अध्वरम् और साध्याः। इन में से इला शब्द का अर्थ तो ऋग्भाष्य में मिलना चाहिये। जो मन्त्र इस शब्द के स्कन्द के प्रमाण के साथ देवराज ने उद्धृत किया है उस का स्कन्दभाष्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इस लिये इस के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। अब रहे दो शब्द अध्वरम् और साध्याः। इन में से पहले का व्याख्यान भी निरुक्त ६। २२॥ पर इसी स्कन्द-महेश्वर भाष्य में मिलता है। साध्याः शब्द का व्याख्यान अन्वेषणीय है।

एक और बात भी विचारणीय है। डॉ० स्वरूप का चौथा हेतु तभी ठहर सकता है, जब हमें निश्चय हो जावे कि महेश्वर ने स्कन्द प्रणीत निरुक्त के सारे भाष्य की टीका नहीं की। परन्तु ऐसा अभी तक असिद्ध है। इस से निश्चित होता है कि देवराज अपने निघण्टुभाष्य में इसी स्कन्द—महेश्वर के निरुक्तभाष्य से अथवा स्कन्दस्वामी के ऋग्वेदभाष्य से स्कन्द का नाम लेकर सब प्रमाण देता है।

महेश्वर और स्कन्द का सम्बन्ध

यदि महेश्वर का स्कन्दभाष्य के साथ डा० स्वरूप प्रदर्शित सम्बन्ध नहीं है तो उसका स्कन्द के साथ और क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। इस का सन्तोषजनक उत्तर पर्याप्त सामग्री के मिलने पर ही दिया जा सकता है। पर हां कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं जिन पर ध्यान देने से हम सत्य के निकट पहुंच सकते हैं। उन का निदर्शन नीचे किया जाता है।

(१) देवराज महेश्वर से परिचित था

वेङ्कट माधव के लेख से हम जानते हैं कि स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ, तीनों ने मिलकर एक ऋग्वेदभाष्य रचा था। देवराज यज्वा ने वेङ्कट माधव का भाष्य बड़े ध्यान से पढ़ा था। अतः यदि अन्य प्रकार से नहीं, तो वेङ्कट माधव के कथन से ही देवराज जानता था कि स्कन्द के सहकारी नारायण और उद्गीथ भी थे। परन्तु देवराज यज्वा ने अपने ग्रन्थ में स्कन्द के साथ नारायण और उद्गीथ का नामोल्लेख भी नहीं किया।[१] इसी प्रकार प्रतीत होता

---

१ इसी प्रकार अस्यवामीय सूक्त का भाष्यकार (आत्मानन्द) प्रथम मण्डल के भाष्य को स्कन्द का न कह कर उद्गीथ का ही कहता है। देखो Catalogue of the SK. Mss. India Office. Part I. p. 8. तथा Descriptive Catalogue of Mss. Central Library Baroda, Vol. I. p. 104.

है कि स्कन्द और महेश्वर दोनों को जानते हुए भी देवराज ने निरुक्त-टीका के सम्बन्ध में स्कन्द का ही नाम लिखना पर्याप्त समझा है।

अब देखिये ! निरुक्त-भाष्य-टीका का तीसरा अध्याय महेश्वर विरचित है। उसमें निरुक्त ३।१०॥ की वृत्ति में अम्बु की व्याख्या में यह लिखा है—

अम्बुमद्भातीति वा । राजतेरर्थे भातिनाऽऽचष्टे । स्वच्छस्तिमितसरोऽम्बुवदवभासते । कलितोपमानं[1] चैतत् । यथा—

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेष भाति मतङ्गजः ।
सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोज्झितम् ॥

परमार्थतः स्वरूपमवकाशम् । अम्बुमद्भवतीति वा । रो मत्वर्थे सः ।

अब इसकी तुलना देवराज के निम्नलिखित लेख से करनी चाहिये। देवराज का लेख अम्बरम् शब्द के भाष्य पर है। इस अम्बरम् के व्याख्यान से ही उसने अम्बु का व्याख्यान भी कर दिया है। देवराज लिखता है—

अथवा अम्बुवद्राजते । स्वच्छस्तिमितसरोऽम्बुवदवभासते । कल्पितोपमानं चैतत् । यथा—

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेष भाति मतङ्गजः ।
सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोज्झितम् ॥ इति

परमार्थतः स्वरूपमवकाशः । अथवा अम्बुमत् भवति । रो मत्वर्थीयः ।[2] १।३।१॥

दोनों वाक्यसमूहों में कितनी समानता है। निरुक्त की टीका में यह पाठ प्रकृत रूप से आया है। और देवराज यज्वा ने विना कर्ता का नाम लिये इसे अवश्य ही वहां से उद्धृत किया है।[3] हम लिख चुके हैं कि यह पाठ निरुक्त

१—कल्पितोपमानं पाठ चाहिये। डा० स्वरूप का I) कोश इसी पाठ का समर्थन करता है।

२—देवराज का यह पाठ पञ्जाब यूनिवर्सिटी लायब्रेरी के हस्तलेख से शुद्ध करके दिया गया है।

३—देवराज और स्थलों में भी दूसरे आचार्यों के लेख विना उनका नाम लिये अपने ग्रन्थ में प्रयुक्त करता है। देखो निघण्टु ३।१७॥ में अध्वर की व्याख्या स्कन्द ऋग्वेदभाष्य १।१।४॥ का उद्धरणमात्र है।

भाष्य-टीका के उस अध्याय का है जिसे महेश्वरकृत लिखा गया है।

पूर्वोक्त निरुक्त-भाष्य-टीका के वचन से आठ पंक्ति आगे का एक और वचन—**शाकपूणेरतिरिक्ता एते**...इत्यादि देवराज निघण्टु २।१८॥ के अन्त में स्कन्दस्वामी के नाम से उद्धृत करता है। इस से प्रतीत होता है कि देवराज सारे ग्रन्थ को ही स्कन्द के नाम से उद्धृत करता है।

डा० स्वरूप के लिए एक कठिनाई है।[१] उनका कहना है कि यदि देवराज महेश्वर को जानता था तो वह दुर्गाचार्य को भी अवश्य ही जानता था। फिर उसने दुर्गाचार्य का नाम क्यों नहीं लिखा।

देवराज उद्धृत स्कन्द और स्कन्द-महेश्वर के जिस लम्बे वचन की तुलना हमने पृ० ७, ८ पर की है, वह वचन हमने प्रयोजनविशेष से चुना है। उस वचन को लिखते हुए स्कन्द-महेश्वर के मन में दुर्गाचार्य का भाष्य अवश्य विद्यमान था। देखिये—

दुर्गाचार्य	स्कन्दमहेश्वर
निगमप्रसक्तमुच्यते। व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति। एवं कर्तरि कारके सतो वृणोतेः। तद्धि कर्म शुभमशुभं वा कृतं सदावृणोति कर्तारम्। २।१३॥	**निगमप्रसङ्गादाह। व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति। कर्तरि सत इति कृतव्याख्यानम्। तद्धि शुभमशुभं वा वृणोति बध्नाति कर्तारम्।**

इसी प्रकार आगे भी दोनों के शब्दों में कुछ समानता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवराज दुर्गाचार्य का स्मरण क्यों नहीं करता।

यद्यपि देवराज दुर्ग का स्मरण नहीं करता परन्तु देवराज के पूर्ववर्त्ती वेङ्कटमाधव से उद्धृत उद्गीथाचार्य को दुर्गभाष्य का ज्ञान अवश्य था।

दुर्गाचार्य	उद्गीथ
एते देवानां स्वभूताः ... स्पशः चिह्नयितारः। ... अहश्च रात्रिश्च उभे च संध्ये ... इत्येवमादयः ५।२॥	**एते देवानां स्वभूताः स्पशःचराः अहश्च रात्रिश्चोभे च सन्ध्ये इत्येवमादयः।१०।१०।८॥**

---

१ स्कन्दमहेश्वरविरचित। निरुक्त-भाष्य-टीका, Introduction pp.11,12.

आगच्छान् आगमिष्यन्तीत्यर्थः। आह। कानि। उच्यते। तान्युत्तराणि युगानि। आगमिष्यन्ति तेऽपि कालाः। न तावत् सांप्रतं वर्तन्त इत्यभिप्रायः। येषु किम्। येषु जामयो भगिन्यो भ्रातॄणाम् अजामियोग्यानि मैथुनसंबन्धानि कर्माणि करिष्यन्ति। कलियुगान्ते हि तादृशः संकरो भवति। न चेदं कलियुगं वर्तत इत्यभिप्रायः।४।२०॥

आ गच्छान्। आगमिष्यन्ति। ता तानि। उत्तरा उत्तराणि। युगानि कालाः। कलियुगान्ते। नेदानीं वर्तन्त इत्यभिप्रायः। यत्र येषु कालेषु। जामयः भगिन्यः। कृणवन् करिष्यन्ति। अजामि जामि भर्तृत्वेन नास्ति यस्य तदजामि। भगिन्या अयोग्यं मैथुनलक्षणं कर्म। ऋग्भाष्य १०।१०।१०॥

इन दोनों वचनों में कितनी समानता है। दोनों ग्रन्थकारों में से एक के मन में दूसरे का ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था। और उद्गीथ ही दुर्ग का ध्यान कर के लिख रहा था। यदि कहो कि दुर्ग ने उद्गीथ और स्कन्द आदि से भाव लिया है, तो यह असङ्गत हो जाता है। दुर्ग ने भी तो स्कन्द का नाम कहीं नहीं लिखा। कहीं एक जगह भी 'अन्ये' कह कर स्कन्द की पंक्तियां नहीं लिखीं।[1] दूसरी ओर स्कन्द-महेश्वर 'अन्ये' आदि लिख कर बहुधा दुर्ग का लेख उद्धृत करते हैं। देखो स्कन्द लिखता है—

अन्ये 'बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा' इति तुल्यत्वात्

---

१ केवल एक स्थान पर दुर्ग—अपरे पुनः पदप्रकृतिः संहितेति। पदानि प्रकृतिरस्याः सेयं पदप्रकृतिरिति।१।१७॥ ठीक स्कन्द जैसा वचन लिखता है।

यद्यपि स्कन्द को यही भाव अभिमत था, तथापि दुर्ग ने **अपरे** कह कर यह पंक्ति स्कन्द से नहीं ली। दुर्ग और स्कन्द दोनों के काल से बहुत पहले प्रस्तुत सूत्र **पदप्रकृतिः संहिता** के दो अर्थ चले आ रहे थे। वाक्यपदीय का कर्ता भर्तृहरि भी, जिसे स्कन्द-महेश्वर निरुक्त भाष्य १।२॥ में उद्धृत करते हैं, दोनों ही अर्थों को दर्शा रहा है—

पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया ॥२।५८॥

अतः दुर्ग प्राचीन काल से प्रचलित अर्थ को **अपरे** लिख कर बताता है।

संहिताया 'असमानजातीयस्य वा' इत्येवमवच्छिन्दन्ति । सा स्त्रीत्वादेव भगिनी भ्रातुरसमानजातीया इत्युच्यत इति व्याचक्षते ।४।२०॥

दुर्ग कहता है—

असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो भ्राता । सा हि स्त्रीत्वादेव अतुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति ।४।२०॥

'बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा'

इस यास्क वाक्य का 'समान जातीयस्य' पाठ महेश्वर को ही सम्मत नहीं था प्रत्युत स्कन्द और उद्गीथ को भी सम्मत था, इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है—

जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा । समानजातीयस्य वा । इति वचनादत्र जामिशब्देन समानजातीय उच्यते । यथा समानादेकस्माज्जातस्य । उद्गीथभाष्य-**१०।२३।७॥**

पुनः स्कन्द निरुक्त १।९॥ के भाष्य में लिखता है—

ये तु ऋच्छन्तीव खे उदगन्ताम् इत्येतं पाठमाश्रित्यास्येममर्थं व्याचक्षते ।

'ऋच्छन्तीवैतौ कर्णौ प्रति खे व्यक्ताः सन्तः शब्दा एतावपि चोदगन्तां प्रत्युद्गच्छत इव ग्रहणाय ।

यह वाक्य ठीक दुर्ग का है ।

पुनः स्कन्दमहेश्वर में लिखा है—

सौधन्वना रथकारा निषादशब्दवाच्या इत्यन्ये ।३।८॥

दुर्ग लिखता है—

निषादः । सौधन्वना इत्येके मन्यन्ते । स च रथकारः ।

यदि दुर्ग को उद्गीथ या स्कन्द का पाठ ज्ञात होता तो वह अवश्य दूसरों का पाठ देता । दुर्ग अपने मे प्राचीनों का पाठ वा मत बहुधा देता है ।[1] परन्तु

---

१ देखो दुर्ग ३।१५॥ यहां जिनका मत दुर्ग ने दिखाया है, उन्हीं का खण्डन स्कन्द-महेश्वर करता है । तथा वेसरमहरवयुवती ४।११॥दुर्ग सम्मत पाठ है । दुर्ग किसी और का पाठ नहीं जानता । स्कन्द दुर्ग सम्मत पाठ का खण्डन करता है । पुनः देखो दुर्ग ५।२५॥६।२॥६।३॥६।५॥६।१४॥६।१९॥६।२२॥

इन में से एक भी ऐसा स्थान नहीं जिस से यह स्पष्ट प्रतीत हो, कि दुर्ग स्कन्द का स्मरण कर रहा है।

निरुक्त १।२०॥ का स्कन्दमहेश्वर का भाष्य ऋग्वेद १०।७१।५॥ के उद्गीथ भाष्य से लग भग मिलता है। उद्गीथ वहां प्रसङ्गवश निरुक्त १३।१३॥ का पाठ उद्धृत करता है। और दुर्ग भी निरुक्तभाष्य में वही निरुक्त १३।१३॥ का पाठ उद्धृत करता है। ध्यान पूर्वक पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उद्गीथ के मन में दुर्ग का भाष्य था।

स्कन्द ऋग्भाष्य और स्कन्दमहेश्वर निरुक्तभाष्य की तुलना

पहले कई ऐसे स्थल बताए जा चुके हैं, जहां स्कन्द–महेश्वर का पाठ उद्गीथ के पाठ से प्रायः मिलता है। अब एक ऐसा स्थल लिखा जाता है, जिस के देखने से दृढ निश्चय होता है कि ऋग्भाष्य और निरुक्तभाष्य के कर्ता वा कर्ताओं का बड़ा घनिष्ठ संबंध था। ऋग्वेदभाष्य १।६।४॥ का पाठ निरुक्तभाष्य १।५॥ के **आदह स्वधा०** मन्त्र के भाष्य से बहुत ही मिलता है। दोनों स्थलों में किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक ही प्रमाण उद्धृत किया गया है। ग्रन्थविस्तरभय से सारा पाठ यहां नहीं दिया गया। परन्तु तुलना कर के विद्वान् स्वयं देख सकते हैं कि महेश्वर ने स्कन्दभाष्य पर टीका नहीं की। वह तो स्कन्द का कोई साथी ही है और उस के पाठों को अधिक परिवर्तन के विना वर्तता है। निरुक्तवृत्ति २।२२॥ का पाठ ऋग्वेद १०।२७।२३॥ के भाष्य से बहुत ही मिलता है। दोनों भाष्यों के कुछ और स्थान जो मिलते जुलते हैं डाक्टर राज के लेख से देखे जा सकते हैं।[1]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि महेश्वर देवराज आदि से पुराना है तो उस का स्कन्द और उद्गीथादि से क्या संबंध है?

महेश्वर स्कन्द, नारायण या उद्गीथ का शिष्य होगा?

यह श्रेय डा० राज को है कि उन्होंने स्कन्द-महेश्वर के निम्नलिखित तीन पाठों की ओर सब से पहले विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया।[2]

---

1. Proceedings and Transactions of A.I.O. C.Lahore, 1928. Vol. II. PP. 252—253.
2. तथैव P. 253.

(१) उपाध्यायस्त्वाह—अनेकार्थत्वाद्धातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम् । नि० वृत्ति ३।१३॥

(२)········महांस्त्वं भवसि तत्र समिध्यमान इति शेषः । इत्युपाध्यायव्याख्यानम् । नि० वृत्ति ३।१३॥

३) एवम् उपाध्यायेन यदि वेति तुल्यायां संहितायां यदिति इकारान्तं वेति चेति एवं रूपद्वयमपोद्धृत्य व्याख्यातम् ।नि० वृत्ति७।३

इन में से प्रथम वचन जिस मन्त्र पर है, उसके उपयोगी अंश का स्कन्द कृत व्याख्यान इस प्रकार है—

'ववक्षिथ' इत्यपि यद्यपि वक्तेर्वा वहतेर्वा साभ्यासस्य रूपम् । तथापि 'विवक्षिथ विवक्षस' इति महन्नामसु पाठात् वहनवचनयो-श्चासम्भवात् अनेकार्थतया धात्वन्तराणामपि प्रसिद्धत्वात् ववक्षति-र्महद्भावार्थः । स्कन्द ऋग्भाष्य १।१६४।३७॥

निरुक्तवृत्ति का तीसरा अध्याय स्पष्ट महेश्वर विरचित कहा गया है ।[१] पूर्वोक्त प्रथम वचन उसी में आया है । और वह स्कन्द के ऋग्भाष्य से बहुत मिलता जुलता है । इस से प्रतीत होता है कि महेश्वर उद्गीथ या स्कन्द को अपना उपाध्याय मानता था ।

महेश्वर के प्राचीन होने में एक और प्रमाण

निरुक्तवृत्ति ३।१६॥ में महेश्वर लिखता है—

तथा च चूर्णिकारः पठति ।[२]

इस से आगे पातञ्जल महाभाष्य का एक पाठ उद्धृत है । चीनी यात्री इत्सिङ्ग के लेख से हम जानते हैं कि सातवीं शताब्दी में भी भाष्यकार पतंजलि की कृति को चूर्णि ही कहते थे । अर्वाचीन काल में यह नाम बहुत कम प्रयुक्त हुआ है । अतः इस नाम के प्रयोग से भी यह अनुमान हो सकता है कि महेश्वर नया व्यक्ति नहीं है ।

---

१ इसी अध्याय के खण्ड १० में दुर्ग और उद्गीथ के अर्थ का विना नाम लिये खण्डन किया गया है ।

२ तुलना करो मेधातिथि के लेख से । मनु ५।१५८॥ पर भाष्य करते हुए वह लिखता है— **उक्तं च चूर्णिकाकारेण ।**

इस लिये जब निरुक्तवृत्ति के कुछ अध्यायविशेष स्कन्दप्रणीत लिखे आ रहे हैं और दूसरे अध्यायविशेष महेश्वर प्रणीत, तो इस बात के मानने में सन्देह नहीं होना चाहिए कि जो अध्याय जिस आचार्य के नाम से है वह उसी का रचा हुआ है। एक हस्तलेख के दो अध्यायों के अन्त में शबर का नाम कैसे आ गया, यह हम नहीं कह सकते।

महेश्वर के पिता का नाम पितृशर्मा था। यह बात निम्नलिखित श्लोक में उस ने स्वयं कही है—

निरुक्तमन्त्रभाष्यार्थपूर्ववृत्तिसमुच्चयः ।
महेश्वरेण रचितः सूनुना पितृशर्मणः ॥

इस श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ पूर्णतया स्फुट नहीं हुआ।

स्कन्द का निवास आदि

आचार्य स्कन्द वलभी का रहने वाला था। ऋग्वेदभाष्य के प्रथमाष्टक के प्रथम अध्याय की समाप्ति पर वह लिखता है—

वलभीविनिवास्येतामृगर्थागमसंहृतिम् ।
भर्तृध्रुवसुतश्चक्रे स्कन्दस्वामी यथास्मृति ॥

स्कन्द भाष्य के चतुर्थाष्टक के अन्त में भी यही श्लोक विद्यमान है। इस से ज्ञात होता है कि स्कन्द स्वामी वलभी का रहने वाला था।

ऋग्वेदभाष्य के अध्यायों के अन्त के पूर्वोद्धृत स्कन्द के लेख से यह भी जाना जाता है कि स्कन्द के पिता का नाम भर्तृध्रुव था। डा० राज का अनुमान है कि वलभी का राजा ध्रुवसेन ही कदाचित् भर्तृध्रुव हो।[1] इस अनुमान के मानने के लिये मुझे अभी तक कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिला।

स्कन्द स्वामी का ऋग्वेदभाष्य

आचार्य स्कन्द का ऋग्भाष्य याज्ञिक मतानुसारी है। इस के प्रत्येक सूक्त के आरम्भ के भाष्य में प्राचीन अनुक्रमणियों के ऋषि और देवता के बोध कराने वाले श्लोकार्ध अथवा श्लोकों के पाद पाए जाते हैं। यह अनुक्रमणियां

1. Proceedings of A. I. O. C. p. 258.

शौनक प्रणीत होंगी।[1] स्कन्द वेदार्थावबोध में छन्दोज्ञान को अनुपयुक्त मानता है। वह लिखता है—

न छन्दः। अनुपयुज्यमानवचनत्वादिति।[2]

निघण्टु, निरुक्त, बृहद्देवता, शौनकोक्त वचनों और ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमाणों से यह भाष्य सुभूषित है। **स्मरणं, स्मृतिः, स्मरन्ति** लिख कर प्रायः मनुस्मृति के प्रमाण ही दिए गये हैं। चतुर्थाष्टक के अष्टमाध्याय के तीसवें वर्ग की दूसरी और तीसरी ऋचा के भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त से प्रमाण दिया गया है। ऋ० १।८।७॥ के भाष्य में **केचित्** लिख कर सम्भवतः किसी प्राचीन वेदभाष्यकार का उल्लेख किया गया है। ऋ० ६।४७।२६॥ अथवा अष्टक ४।७।३५ ४॥ के भाष्य में **विष्ठितं जगत्** पदों के सम्बन्ध में निम्नलिखित वचन है—

केचित्तु—विष्ठितशब्दः स्थावरवचनः जगदित्येतेन समुच्चीयते स्थावरं जङ्गमं च बुध्यतामिति-एवं व्याचक्षते।

इस से सम्भवतः किसी प्राचीन ऋग्भाष्य का ही पता मिलता है। यद्यपि यह मंत्र निरुक्त ६।१३॥ में भी है, पर वहां यास्क का व्याख्यान और प्रकार से है। दुर्ग व्याख्यान में भी **मन्यताम्** अर्थ है, **बुध्यताम्** नहीं। अतः स्कन्द का संकेत किसी निरुक्तभाष्य की ओर कदाचित् ही हो सकता है।

सायण का ऋग्वेदभाष्य बहुत स्थलों में इस भाष्य की छायामात्र है।

स्कान्द ऋग्भाष्य के हस्तलेख

स्कन्द के ऋग्वेदभाष्य के जो हस्तलेख अब तक मिले हैं, उनमें प्रथमा-

---

१—जो आर्षानुक्रमणि शौनक के नाम से राजेन्द्रलाल मित्र ने प्रकाशित की थी, वह अर्वाचीन है। षड्गुरुशिष्य आदि ग्रन्थकार जो श्लोक शौनकोक्त आर्षानुक्रमणि से उद्धृत करते हैं, वे इस में नहीं मिलते।

२—इस भाव का खण्डन जयतीर्थ करता है। उस का संकेत स्कन्द की ओर ही प्रतीत होता है। उस का वचन यह है—

एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति। ऋग्भाष्य पत्र १३ क।

ष्टक सम्पूर्ण मिलता है । द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चमाष्टक के कुछ अंश ही हैं । चतुर्थाष्टक के अन्त में लिखा है कि ३२वें अध्याय पर स्कन्दस्वामी का भाष्य समाप्त हुआ । इस से इतना निश्चित होता है कि चतुर्थाष्टक तक तो स्कन्दभाष्य था ही । अगले पत्रों पर मण्डल ६।७५।६॥ तक का भाष्यांश है । इस भाष्य के हस्तलेख त्रिवन्दरम, अड्यार, और राजकीय पुस्तकालय मद्रास में हैं ।

पं० साम्बशिव शास्त्री के संस्करण का प्रथम सम्पुट अब तक प्रकाशित हुआ है । उस में सम्पादन के बहुत दोष हैं । उदाहरणार्थ पृ० ६१, ६४ और १३१ पर निरुक्त २।५॥ का एक प्रसिद्ध पाठ तीन प्रकार से छपा है । सम्पादक को वैदिक वाङ्मय का ज्ञान प्रतीत नहीं होता । इस भाष्य को यत्नपूर्वक सम्पादन करने की बड़ी आवश्यकता है ।

२—नारायण (लगभग संवत् ६८७)

इस ग्रन्थ के पृ० ४ पर वेङ्कटमाधव के ऋग्भाष्य का जो श्लोक उद्धृत किया गया है उस से हम जानते हैं, कि नारायण स्कन्दस्वामी का एक सहकारी था । नारायण के भाष्य का अवलोकन अभी तक मैं ने नहीं किया । पं० साम्बशिव शास्त्री के पास जो क चिह्न का हस्तलेख है, उस में सप्तमाष्टक पर भी कुछ भाष्यांश मिलता है । परन्तु पञ्चमाष्टक का केवल प्रथम अध्याय ही है । और षष्ठाष्टक नहीं मिला । बहुत सम्भव है पांचवां और छटा अष्टक नारायण कृत भाष्य वाले हों ।

डाक्टर राज का अनुमान है कि यह नारायण सामविवरणकार माधव भट्ट का पिता हो सकता है ।[1] उन्हीं के विचार का अनुवाद पं० साम्बशिव शास्त्री के उपोद्घात में मिलता है—

१—बहुत लिखने पर भी उक्त महाशय का तत्सम्बन्धी लेख मुझे नहीं मिल सका । किसी न किसी कारण से वे इसे मेरे पास भेजने में अशक्त रहे हैं । परन्तु यह बात उन्होंने सन् १९२९ के दिसम्बर मास के अन्त में स्वयं मुझे कही थे । वह तब मॉडल टाऊन में मेरे अतिथि थे ।

स्कन्दस्वामिसहचरन्नारायणपण्डितस्य सुतत्वेन सम्भावितस्य माधवपण्डितस्य कृतौ सामवेदव्याख्यायाम् उपक्रमे—
ॐश्रीगणपतये नमः ॐनमः सामवेदाय, इत्युक्त्वा—

रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे ।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥

इति मंगलकरणदर्शनात् महाकविबाणभट्टस्यानुग्रहीता तत्परमाचार्यो वा सोऽयं माधवपंडितः प्रत्येतव्यः। सति चैवमदसीयमेव सामवेदव्याख्याग्रन्थगतं मंगलपद्यं स्वकीयकादम्बर्यामपि तदनुग्रहस्मरणकृते बाणभट्टेन तथैवानूदितं शक्यमभ्यूहितुम्। सामवेदव्याख्याता प्रौढो माधवपण्डितः सर्वमान्यश्रीस्कन्दस्वामीयऋग्भाष्यगताम् —"एते सर्वे प्रयोगकाले स्वार्थं प्रतिपादयन्तः कर्मणोऽङ्गत्वं प्रतिपद्यन्ते" इत्यादिवाक्यपद्धतिमिव कस्यापि कवेः काव्यगतं 'रजोजुष' इत्यादिमंगलपद्यं स्वग्रन्थेऽनूदितवानिति कल्पना तु न चोदत्तमा, ग्रन्थस्यापकर्षापत्तेः। अतः क्रिस्त्वब्दीयसप्तमशतकपूर्वार्धवर्तिनो बाणभट्टादनर्वाचीनस्य माधवपण्डितस्य जनकसहचरः स्कन्दस्वाम्याचार्यः ततः प्राक्तन एव शक्यः स्थापयितुम् इति ।

इस का अभिप्राय यह है कि बाणभट्ट ने ही सामवेदभाष्यकार माधवभट्ट से अपनी कादम्बरी का मङ्गलश्लोक लिया है। अतः बाण से पुराना माधवभट्ट सम्भवतः स्कन्द के सहचर नारायण का पुत्र था।

सम्भव है यह अनुमान ठीक हो, परन्तु इस को पूर्णतया सिद्ध करने के लिये अभी प्रयत्नविशेष की आवश्यकता है। हां, इतना और भी सत्य है कि माधवभट्ट के सामवेदभाष्य की प्रस्तावना स्कन्दस्वामी के ऋग्वेदभाष्य की प्रस्तावना का स्वल्पभेद से रूपान्तर ही है।[1]

माधवभट्ट अत्यन्त संक्षिप्त रूप से अपना परिचय देता है। अतः वह किस नारायण का पुत्र था, यह जानना कठिन है। माधव का लेख इतना ही है—

---

१ तुलना करो वेबर का बर्लिन का सूचीपत्र, पृ० १७, १८।

पञ्चाग्निना माधवेन श्रीनारायणसूनुना सवितुः परां भक्तिमालम्ब्य तत्प्रसादाद् भाष्यं कृतम् ।

इस नारायण के अतिरिक्त तीन और नारायण हैं, जिनका नाम ऋग्वेद सम्बन्धी वाङ्मय में मिलता है। उनका उल्लेख आगे किया जाता है।

आश्वलायन श्रौतवृत्तिकार नारायण

यह नारायण नरसिंह का पुत्र और गर्गगोत्री था। इस ने भगवान् देवस्वामी के विस्तीर्ण भाष्य को देख कर अपनी वृत्ति लिखी थी। ये बातें वह स्वयं अपनी वृत्ति के प्रारम्भिक श्लोकों में लिखता है—

आश्वलायनसूत्रस्य भाष्यं भगवता कृतम् ।
देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं सदनाकुलम् ॥३॥
तत्प्रसादान्मयेदानीं क्रियते वृत्तिरीदृशी ।
नारायणेन गार्ग्येण नरसिंहस्य सूनुना ॥४॥

यह नारायण कितना पुराना है, यह हम नहीं कह सकते। श्रीपाण्डुरङ्ग वामन काणे ने प्रो० भण्डारकर के आधार पर लिखा है कि यह नारायण त्रिकाण्ड मण्डन में उद्धृत है।[१] मुद्रित त्रिकाण्ड मण्डन में इस नारायण या इस की वृत्ति का नामोल्लेख भी हमें नहीं मिला। हां, उसकी टीका में तो नारायण उद्धृत है। परन्तु वह टीका बहुत नवीन है।[२] वेलङ्कर महाशय का विचार है कि इस नारायण को बौधायन प्रयोगसार का कर्ता केशवस्वामी उद्धृत करता है।[३] और यही नारायण अनेक श्रौतप्रयोगों का कर्ता है।[४] हमारे विचार में ऐसा मानने के लिये अभी कोई प्रमाण नहीं है। अतः इस नारायण के काल के सम्बन्ध में अभी कुछ विशेषरूप से नहीं कहा जा सकता। हमारा अनुमान मात्र है कि यह नारायण गृह्यविवरणकार से पहले का होगा।

१—History of Dharmasastra पृ० २८१।

२—देखो, वेलङ्कर Descriptive catalogue of S. and P. Mss. B. B. R. A. S. Vol. II. पृ० २१८ संख्या ६८६।

३—तथैव पृ० १६८ संख्या ५०८।

४—तथैव पृ० १८३ संख्या ५७३।

आश्वलायन गृह्यविवरणकार नारायण

गृह्यविवरणकार नारायण श्रौतवृत्तिकार नारायण से भिन्न प्रतीत होता है। उसके विवरण का आरम्भिक श्लोक यह है—

आश्वलायनमाचार्यं प्रणिपत्य जगद्गुरुम्।
देवस्वामिप्रसादेन क्रियते वृत्तिरीदृशी॥

अर्थात् यह गृह्यवृत्ति भी देवस्वामी के भाष्य के आधार पर लिखी गई है।

विवरण की समाप्ति पर ये दो श्लोक और मिलते हैं—

आश्वलायनगृह्यस्य भाष्यं भगवता कृतम्।
देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं तत्प्रसादतः॥
दिवाकरद्विजवर्यसूनुना नैध्रुवेण वै।
नारायणेन विप्रेण कृतेयं वृत्तिरीदृशी॥

अर्थात् दिवाकर शर्मा के पुत्र नारायण ने जो नैध्रुवगोत्री था, देवस्वामी के विस्तीर्ण भाष्य के अनुसार यह वृत्ति लिखी। पूर्वोद्धृत श्लोकों में इस ग्रन्थ को वृत्ति लिखा गया है, परन्तु अध्यायों के अन्त में इसे विवरण कहा गया है। इन श्लोकों के देखने से यह भाव उत्पन्न होता है कि गृह्यविवरणकार नारायण श्रौतवृत्तिकार नारायण से अर्वाचीन है। उसके श्लोक श्रौतवृत्तिकार के श्लोकों की छायामात्र हैं। यह उचित प्रतीत नहीं होता कि श्रौतवृत्तिकार गृह्यविवणकार का इन श्लोकों के लिखने में अनुकरण करे।

यह गृह्यविवरणकार नारायण संवत् १३२३ से पहले का है। रेणुदीक्षित जिसने पारस्करगृह्य पर अपनी कारिका लिखी है और जो उस कारिका के अन्त में अपनी तिथि ११८८[1] शके देता है, वह सीमन्तोन्नयन संस्कार के प्रसंग में लिखता है[2]—

सीमन्तोन्नयनं कर्म न स्त्रीसंस्कार इष्यते॥ १४॥
केचित्तु गर्भसंस्काराद्गर्भे गर्भे प्रयुञ्जते।

१—देखो, सूची India Office, part 1 पृ० ६८।

२—दयानन्द कालेज का हस्तलेख पत्र ६।

स्त्रीसंस्कारसमाख्यातादिति नारायणोऽब्रवीत् ॥१५।१२॥

अर्थात् कई ग्रन्थकार प्रति गर्भ समय सीमन्तोन्नयन मानते हैं, वे इसको स्त्रीसंस्कार नहीं मानते, परन्तु नारायण इसे स्त्रीसंस्कार ही मानता है, और इसकी आवृत्ति प्रति गर्भ में नहीं मानता।

रेणु का संकेत इसी आश्वलायनगृह्यविवरणकार की ओर है। इसी की वृत्ति में १।१४।१॥ सूत्र पर निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

इदं कर्म न प्रतिगर्भमावर्तते । स्त्रीसंस्कारत्वात्। न त्वयं गर्भसंस्कारः..........सीमन्तोन्नयनमिति समाख्या बलात् । आधारस्य च संस्कृतत्वात्।

यहीं से लेकर रेणु ने **समाख्या** शब्द का प्रयोग अपनी कारिका में किया है।

शांखायनगृह्यभाष्य का कर्ता नारायण

इसके भाष्य का नाम गृह्यप्रदीपक है। इसने अपना भाष्य संवत् १६२६ में बनाया था। यह बात इस के भाष्य से स्पष्ट है।[1]

इन तीनों नारायणों में से तीसरा तो बहुत अर्वाचीन है। नैध्रुव नारायण भी गार्ग्य नारायण का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है। अतः इनमें से यदि किसी नारायण पर स्कन्द के सहकारी भाष्यकर्ता होने का सन्देह हो सकता है, तो वह श्रौतवृत्तिकार नारायण ही है। परन्तु अधिक सामग्री के अभाव में सुनिर्णीतरूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता।

३—उद्गीथ (लगभग संवत् ६८७)

वेङ्कटमाधव के लेखानुसार स्कन्दस्वामी का तीसरा सहकारी उद्गीथ था। उद्गीथभाष्य का हस्तलेख सन् १६२६ में मुझे मिला था। परन्तु उद्गीथ का परिचय इस से पहले भी विद्वानों को था। सायण ऋग्भाष्य १०।४६।५॥ पर और आत्मानन्द अपने **अस्यवामीय** सूक्त के भाष्य[2] में इसका उल्लेख

१—देखो अलवर का सूचीपत्र पृ० १ और उसी के extracts पृ० १,२।

२—तुलना करो H. A. S. L. मैक्समूलर कृत, सन् १८६०, पृ० २४०।
तथा बड़ोदा का सूचीपत्र, भाग १, पृ० १०४।

करते हैं।

उद्गीथभाष्य का जो हस्तलेख हमें मिला है वह ऋग् १०।५।७॥ से लेकर १०।८३।५॥का भाष्य है। मध्य में भी कतिपय मन्त्रों का भाष्य लुप्त है।

इस भाष्य में निम्नलिखित विशेषताएं मैंने अब तक देखी हैं—

(क) ऋग्वेद १०।६॥ के अन्त में **सस्रुषीस्तदपसो** मन्त्र को सकल पाठ में देकर उद्गीथ उसका भी भाष्य करता है। वह लिखता है—

अब्देवत्या वै खैलिक्येषा ।

परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत हस्तलेख में तीन चार और स्थानों पर मूल मन्त्रों का भी सकलपाठ मिलता है।

(ख) ऋग्वेद १०।२७।२४॥ के भाष्य में उद्गीथ ने

मास्मैताद्दक् के **मा । अस्मै । तादृक् ।**

पद पढ़े हैं। दुर्ग का पदविच्छेद निरु० ५।१६॥ के व्याख्यान में उद्गीथ समान ही है। स्कन्द-महेश्वर का पाठ शाकल्यनुसारी है। परन्तु इसमें हमें सन्देह है।

(ग) उद्गीथ पुराने भाष्यकारों का बहुत कम स्मरण करता है। केवल १०।४५।२॥ के भाष्य में **इति केचित्** कह कर किसी प्राचीन भाष्यकार की ओर संकेत करता है।

(घ) उद्गीथ भाष्य मैक्समूलर सम्पादित ऋक्सायण भाष्य के शुद्ध करने में बड़ी सहायता देता है। जैसे, ऋ० १०।८।५॥ पर भाष्य करते हुए उद्गीथ लिखता है—

ऋताय उदकार्थं भौमरसलक्षणस्योदकस्यादानार्थम् ।

मैक्समूलर सम्पादित सायण पाठ इस प्रकार है—

ऋताय सोमरसलक्षणस्योदकस्यादानार्थम् ।

अब विचारणीय है कि जल भौमरसलक्षण तो हो सकता है, परन्तु सोमरसलक्षण नहीं। अतः सायणभाष्य का मैक्समूलर स्वीकृत पाठ शुद्ध हो जाना चाहिए। देवराज यज्वा भी निघण्टुभाष्य १।३।१५॥ में उद्गीथ प्रदर्शित पाठ का ही समर्थन करता है। वस्तुतः सायण को भी यही पाठ अभीष्ट था[1]

१—देखो स्कन्द-महेश्वर निरुक्त भा० पृ०॥

इसी प्रकार ऋग्वेद सायण भाष्य १०।१५।११॥ में **प्रयतानि** का **स्रुचि** अर्थ मैक्समूलर ने अपने संस्करण में माना है। स्रुचि पाठ वस्तुतः अशुद्ध है। यहां पर **शुचीनी** चाहिए। उद्गीथ का पाठ ऐसा ही है और मैक्समूलर का C[2] कोश भी इसी शुद्ध पाठ का समर्थक है।

(ङ) सायण भाष्य जहां जहां त्रुटित अथवा दूषित हो गया है, वहां उद्गीथ भाष्य की सहायता से पाठ जाने जा सकते हैं। जैसे ऋ० १०।१०।७॥ १०।१८।१४॥१०।२२।१३॥ इत्यादि में।

सायण ऋग्भाष्य के मुम्बई संस्करण के सम्पादकों ने जहां स्वकल्पना स त्रुटित स्थानों की पूर्ति की है, वह भी उद्गीथभाष्य के पाठ से बहुत स्फुट हो जाती है। जैसे ऋ० १०।२७।६॥ का सारा सायण भाष्य इन्हीं सम्पादकों की कल्पना का फल है।

(च, उद्गीथ निरुक्त १३।१३॥ के पाठ का अंश ऋ० १०७१।५॥ के भाष्य में लिखता है।

(छ) ऋ० १०।१६।१॥ में उद्गीथ बृहद्देवता का नाम स्मरण करता है। परन्तु १०।७६।१॥ के भाष्य में देवतानुक्रमणी के नाम से एक पाठ देता है, जो बृहद्देवता ७।१०६॥ का पाठ है। सम्भव है कि बृहद्देवता ने यह पाठ देवतानुक्रमणी से लिया हो या उद्गीथ ही बृहद्देवता को देवतानुक्रमणी कह रहा हो।

(ज) ऋ० १०।२०।८॥ के पश्चात् उद्गीथभाष्य में सूक्तों का एक नया विभाग है। हम नहीं कह सकते कि यह विभाग किस शाखा का था।

(झ) निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, और स्कन्द-महेश्वर तथा निघण्टु भाष्यकार देवराज और नैरुक्त ढंग का भाष्यकार वररुचि, ये सारे निरुक्त को **भाष्य** और यास्क को भाष्यकार लिखते हैं। परन्तु उद्गीथ भी ऋ० १०।२७।२३॥ के व्याख्यान में **भाष्ये** लिख कर निरुक्त ७।५॥ की पंक्ति उद्धृत करता है।

उद्गीथ का पूरा नाम आदि

आचार्य उद्गीथ अपने भाष्य में अध्यायों की समाप्ति पर निम्नलिखित प्रकार का वाक्य पढ़ता है—

वनवासी विनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये चतुष्पञ्चाशोऽध्यायः समाप्तः ॥

यदि **वनवासी** पाठ को स्कन्द के **वलभीविनिवासी** पाठ का टूटा हुआ अंश माना जावे तो इस वाक्य का यह अर्थ होगा—

विनिर्गत अर्थात् कहीं बाहर से आकर वलभी में रहने वाले आचार्य उद्गीथ का भाष्य।

उद्गीथ का भाष्यक्रम

उद्गीथ का भाष्य स्कन्दभाष्य के समान याज्ञिक पद्धत्यनुसार पूरे विस्तार से लिखा गया है। परन्तु सूक्तों के आरम्भ में स्कन्द के समान उद्गीथ आर्षानुक्रमणी को उद्धृत नहीं करता। वह तो ऋषि देवता सम्बन्धी ज्ञान अपनी संस्कृत में लिख कर ही संतुष्ट रहता है।

४—**हस्तामलक** (लगभग संवत् ७५७)

हस्तामलक शंकराचार्य के प्रसिद्ध चार शिष्यों में से एक था। कवीन्द्राचार्य के पुस्तक-भण्डार के सूचीपत्र में उसे भी ऋग्वेद का भाष्यकार लिखा गया है।[१] इसके ऋग्वेदभाष्य की सूचना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। कहते हैं यह हस्तामलक प्रभाकरमिश्र का पुत्र था।[२] परन्तु इस बात को सुसिद्ध करने के लिये अभी प्रबल प्रमाणों की आवश्यकता है। इसका काल संवत् ७५७ के समीप ही रखना पड़ेगा।[३]

कहते हैं हस्तामलक आश्वलायन शाखीय ब्राह्मण था, अतः सम्भव हो सकता है कि उसने ऋग्वेद का भाष्य रचा हो।

५—**वेङ्कटमाधव** (लगभग संवत् ११००–१२००)

काल

(१) आचार्य सायण (१३७२-१४४४ सं०) ऋ० १०।८६।१॥ के भाष्य

१—गायकवाड़ प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, संख्या १७, पृ० १।

२—देखो, जर्नल आफ ओरिएण्टल रीसर्च मद्रास, सन् १९२९ पृ० ४६।

३—देखो, महाशय चिन्तामणि का लेख The date of Sri Sankaracarya जर्नल आफ ओरिएण्टल रीसर्च मद्रास, सन् १९२९

में लिखता है—

माधवभट्टास्तु-वि हि सोतोरित्येषर्गिन्द्राण्या वाक्यमिति मन्यन्ते ।

अर्थात्-माधवभट्ट ऋ० १०।८६।१॥ को इन्द्राणी का वाक्य मानता है। इस से आगे इसी ऋचा पर सायण माधवभट्ट का भाष्य उद्धृत करता है। यह उद्धरण वेङ्कटमाधव के भाष्य में मिलता है।[1] इस से निश्चित होता है कि वेङ्कटमाधव सायण से पहले हो चुका था।

(२) निघण्टु भाष्यकार देवराजयज्वा (सं० १३७० के निकट) सायण का पूर्ववर्ती है। डा० स्वरूप[2] का और मेरा[3] ऐसा ही मत है। इसके विपरीत डा० राज का मत है कि देवराज सायण का उत्तरवर्ती है। डा० राज लिखता है[4]—

"I find that some passages cited by Devaraja from Madhava are seen in Sayana......"

"Devaraja gives passages from Madhava which are not in Venkatamadhava, which are opposed to the explanations in Venkatamadhava, and which are seen verbatim in Sayana."

अर्थात्-देवराज ने माधव के नाम से जो प्रमाण दिए हैं, उन में से कई सायणभाष्य में अक्षरशः मिलते हैं।

इस से आगे डा० राज ने देवराज से सात ऐसे प्रमाण दिए हैं, जो वेङ्कटमाधवभाष्य में नहीं मिलते, परन्तु सायणभाष्य में ठीक वैसे ही मिलते हैं।

१—देखो, डा० स्वरूप के Indices and Appendices to the Nirukta 1929. पृ० ३१, ३२। डा० स्वरूप ने वेङ्कटमाधव का एक ही हस्तलेख देखा था। अधिक ग्रन्थों को देखने से यह पाठ सायणोद्धृत पाठ से बहुत मिल जाता है।

२—निरुक्त, preface, पृ० २५-२७।

३—वैदिक वाङमय का इतिहास भाग द्वितीय, पृ० ४५।

४—Proceedings, Fifth Indian Oriental Conference पृ० २२६।

डा० राज की प्रतिज्ञा और तदर्थ दिए गए हेतुओं की परीक्षा

अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए डा० राज ने जो प्रमाण दिए हैं उन सब का आधार सत्यव्रत का संस्करण है। खेद से कहना पड़ता है कि सत्यव्रत का संस्करण अत्यन्त असन्तोषजनक है। सत्यव्रत के पास पर्याप्त सामग्री न थी। अतः उसके सम्पादित पाठों से किसी बात का निर्णय करना अपने को भ्रम में डालना है। हमारे पास देवराजकृत निघण्टुभाष्य के बहुत से भाग का एक पर्याप्त पुराना हस्तलेख है। वह कम से कम ४०० वर्ष पुराना होगा। इस ग्रन्थ का उस से अधिक पुराना हस्तलेख अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। उसी के ध्यान पूर्वक देखने से सत्यव्रत के संस्करण की नितान्त अप्रामाणिकता सिद्ध होती है। देखिए, उसके मिलाने से हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है—

(क) मुद्रित निघण्टुभाष्य २।५।८॥ के अनुसार ऋ० ४।६।८॥ का प्रमाण देकर देवराज लिखता है[१]—

'अथर्यो न स्त्रियः इव' इति माधवः।

ठीक यही पाठ सायणभाष्य में मिलता है।

वेङ्कटमाधव का पाठ है—

अथर्यस् स्त्रियः।

यह सत्य है कि यदि सत्यव्रत का निघण्टुभाष्य का संस्करण देवराज का वास्तविक पाठ होता तो डा० राज का पक्ष स्वीकार करना पड़ता, परन्तु उन अनेक कोशों को देखने से जिनके आधार पर पं० शुचिव्रत एम० ए० लाहौर में निघण्टुभाष्य का नया संस्करण बना रहे हैं, मैं निश्चय से कह सकता हूं कि इस स्थान पर मुद्रित पाठ देवराज का पाठ नहीं है। हमारे अपने हस्तलेख तथा इण्डिया आफिस के हस्तलेख E ५५६ में—

अथर्य्य स्त्रिय इति माधवः।

यह पाठ है। यह पाठ ठीक वेंकटमाधव का पाठ है। देवराज **अथर्यः** पद में विसर्ग का लोप करता है।

१—डा० राज का लेख, Proceedings, Fifth I. O. C. पृ० २३०।

अब डा० राज के दूसरे हेतु की परीक्षा होती है ।

(ख) मुद्रित निघण्टुभाष्य १।१४।१८॥ में ऋ० ६।६७।५४॥ का प्रमाण देकर देवराज लिखता है--

मांश्चत्वः । मन ज्ञाने । पदस्य न-लोपाभावः पृषोदरादित्वात् ।' 'महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे (ऋ० सं० ७,४,२१,४)"—इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम्—'मही महती, इमे, अस्य सोमस्य, शूषे सुखकरे भवतः । येऽच कर्मणी मांश्चत्वे । अश्वनामैतत् । मत्नु चरतीति । अश्वैः क्रियमाणे युद्धे बाहुयुद्धे, वधत्रे शत्रूणां हिंसनशीले भवतः । सोऽयं अस्वापयच्छत्रून्त्स्नेहयच्च । स्नेहनं प्रद्रावणम् । अथ प्रत्यक्षकृतः ।

यह सत्य है कि यहां का मन्त्र भाष्य सायणभाष्य से बहुत मिलता है । परन्तु यह भी सत्य है कि मुद्रित पाठ देवराज का पाठ नहीं है । देखिए, हमारे हस्तलेख में देवराज का कैसा पाठ है ।

मांश्चत्वः । मन ज्ञाने क्विप् । चततिर्गतिकर्मा । इणशीङ्भ्यां वन्निति वन् प्रत्ययो बाहुलकाद्भवति । मन्यमानो ऽश्वपालस्येंगितं गच्छति मांश्चत्वः । समासे पूर्वपदस्य न-लोपाभावः । पृषोदरादित्वात् । महीमे अस्य वृषनाम शूषे मांश्चत्वे वा पृशने वा वधत्रे—इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम् । महती इमे अस्य सोमस्य सुखकरे वर्षणनमने शराणां वर्षणं शत्रूणां नमनमश्वैः क्रियमाणे युद्धे बाहुयुद्धे शत्रूणां हिंसनशीले ये भवतः सोयमस्वापयच्छत्रून् स्नेहयच्च । स्नेहणं प्रद्रावणं । अथ प्रत्यक्षः ।[1]

लेखकप्रमाद से जो अशुद्धियां इस पाठ में प्रविष्ट हो गई हैं, उनको शोध कर देखने से मुद्रित पाठ से यह पाठ बड़ा उत्कृष्ट प्रतीत होता है । सत्यव्रत के पाठ में पहले तो दो पंक्ति का पाठ ही लुप्त है और आगे मन्त्रभाष्य सायण के अनुकूल बनाया गया है । स्पष्ट ज्ञात होता है कि सत्यव्रत ने निघण्टुभाष्य के

१—यह पाठ अन्तिम प्रूफ में पं० शुचिव्रत के इण्डिया आफिस के दो अन्य कोशों से भी शोधा गया है ।

जो दो पूर्ण वा त्रुटित हस्तलेख वर्ते हैं, उनमें से पूर्णकोश में किसी ऐसे शोधक का हाथ है जिसके पास माधवसायण का भाष्य था। वेङ्कटमाधव के भाष्य से अपरिचित होने के कारण अथवा अपने मूल के बहुधा त्रुटित होने के कारण से उसने कई स्थलों पर माधव का नाम देखकर सायण-माधव का भाष्य समाविष्ट कर दिया है। अब हमारे कोशानुसारी देवराज के पाठ से वेङ्कटमाधव के पाठ की तुलना कीजिए। वेङ्कटमाधव का पाठ मैंने अपने पुस्तकालय के मूल कोश से, पञ्जाब यूनिवार्सिटी के मूल कोश से तथा मद्रास के कोश की प्रति से शोधकर लिया है।

ऋ० ६।६७।२४॥ पर वें० माधव का भाष्य

महीमे अस्य—महती इमे अस्य सोमस्य सुखकरे वर्षणनमने शराणां वर्षणं शत्रूणां नमनं अश्वैः क्रियमाणे युद्धे। अपि वास्पर्शन-साध्ये बाहुयुद्धे। शत्रूणां हिंसनशीले ये भवतः। सोयमस्वापयच्छत्रून् स्नेहयच्च। स्नेहणं प्राद्रवणम्। अथ प्रत्यक्षः।

यह पाठ देवराज के पाठ से आश्चर्यजनक रीति से मिलता है। और यदि देवराज-कृतभाष्य और वेङ्कटमाधवकृतभाष्य सुसम्पादित हो जाएं तो एक दो स्थलों का स्वल्पभेद भी न रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि देवराज इन स्थलों पर वेङ्कटमाधव के भाष्य को ही उद्धृत करता है।

डा० राज के दिए हुए दूसरे हेतुओं की भी यही अवस्था है। विस्तरभय से उन सबकी विवेचना यहां नहीं की गई। देवराज के शोधित ग्रन्थ का माधव के नाम से उद्धृत हुआ हुआ जो पाठ वेङ्कटमाधव के इस भाष्य में नहीं मिलता वह वेङ्कटमाधव के दूसरे भाष्य में मिल जाता है। इसका उल्लेख आगे किया जाएगा। इतने लेख से यह निर्णीत होता है कि डा० राज की प्रतिज्ञा सत्य-हेतु-रहित होने से निराधार है। अतः देवराज सायण का पूर्ववर्ती ही है।

देवराज वेङ्कटमाधव को उद्धृत करता है

देवराज अपने निघण्टुभाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्याः ....पर्यालोचनात्........स्कन्दस्वामि भवस्वामि—गुहदेव—श्रीनिवास—माधवदेव उवट—भट्टभास्करमिश्र—भरतस्वाम्यादि-

विरचितानि वेदभाष्याणि··· निरीक्ष्य क्रियते ।

यहां अनेक वेदभाष्यकारों के अतिरिक्त देवराज वेङ्कटतनय माधव का स्मरण करता है । इससे सिद्ध होता है कि वेङ्कटमाधव संवत् १३७० से पहले का है ।

(३) केशवस्वामी [संवत् १३०० से पहले का] अपने नानार्थार्णवसंक्षेप भाग १, पृ० ८ पर लिखता है—

द्वयोस्त्वश्वे तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्यृक्षु भूरिशः ।
माधवाचार्यसूरिश्च को अद्येत्यृचि भाषते ॥

अर्थात् दोनों लिङ्गों में गौ शब्द का घोड़ा अर्थ है । इसी प्रकार अनेक ऋचाओं में स्कन्दस्वामी ने घोड़ा अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋ० १।८४।१६॥ में यही अर्थ करता है ।

ऋ० १।८४।१६॥ पर वेंकटमाधव के भाष्य में गौ शब्द का घोड़ा ही अर्थ किया गया है । अत: वेंकटमाधव सं० १३०० से पहले का है ।

(४) सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक[1] अपनी न्यायपरिशुद्धि द्वितीय आह्निक पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है । यह वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण **सुदर्शनमीमांसा** का कर्ता है ।[2] वेदाचार्य का काल संवत् १३००से कुछ पहले का है । वह बल्लाल-नामक राजा का समकालीन था । वह सुदर्शनमीमांसा पृ० १२ पर लिखता है—**माधवीयनामानुक्रमण्याम्—**

चक्रश्चाक्रः पविर्नेमिः पृथक् चक्रस्य वाचकाः ।

१—सर्वदर्शनसंग्रह ४।२०४॥ में माधव वेङ्कटनाथ को उद्धृत करता है ।

२—डा. राज सितम्बर १, सन् १६३० के अपने पत्र में मुझे लिखते हैं—

The Vedantacharya who wrote the Sudarsana-mimansa is not the famous Vedantacharya of the 13th Certury. He must be another.

अर्थात् प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य सुदर्शनमीमांसा का कर्ता नहीं है । सुदर्शन-मीमांसा का कर्ता कोई दूसरा वेदान्ताचार्य होगा। वस्तुत: सुदर्शनमीमांसा का कर्ता वेदाचार्य है। प्रतीत होता है डा. राज को पूर्ण मुद्रित ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ। उसमें स्पष्ट लिखा है कि वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण इसका कर्ता है ।

वही पुनः पृ० २२ पर लिखता है—

माधवीयाख्यातानुक्रमण्याम्—

विवक्ति सिषक्ति छिषक्ति ।

ये प्रमाण संभवतः वेंकटमाधव से ही दिए गए हैं। इनसे भी यही सिद्ध होता है कि वेंकटमाधव सं० १३०० से पहले का है।

वेङ्कटमाधव स्वयं अपना काल बताता है

(५) ऋग्वेद के अष्टमाष्टक के तृतीयाध्याय की समाप्ति पर वेंकटमाधव लिखता है—

एकोनषष्ठमध्यायं व्याकरोदिति माधवः ।

जगतामेकवीरस्य विषये निवसत्सुखम् ॥

अर्थात् **एकवीर** महाराज के राज्य में सुख से रहते हुए माधव ने ५६वें अध्याय का भाष्य किया। इसी प्रकार ६०वें अध्याय के अंत में वह लिखता है कि वह **चोल** देश निवासी था।

चोलों की राजवंशावलियां देखने से पता चलता है कि निम्नलिखित राजाओं का नाम वीर था। उनका काल भी साथ ही दिया जाता है।[1]

१—वीर राजेन्द्र सन् १०६२-१०७०

२—वीर चोल ,, १०७८-१०८८

३—वीर चोल ,, ११३५-११४६

४—वीर चोल ,, ११८३-१२०६

५—वीर राजेन्द्र ,, १२०७-१२५५

अतः वेंकटमाधव यदि अंतिम राजा वीर राजेन्द्र के काल में भी हो तो वह विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुआ होगा। और यदि वह किसी पहले वीर राजा के काल में था तो उसका काल इस से पूर्व का हो जायगा।

(६) पं० साम्बशिव शास्त्री ने स्कन्द और माधवभाष्य की भूमिका पृ० ६ पर एक प्रथा का वर्णन किया है। तदनुसार कौशिकगोत्रोत्पन्न सेतलूर कुलस्थ

१—देखो, Quarterly Journl of the Mythic Society, Vol. XXI, No. 1. July 1930, पृ० ४४-४६।

एक वेङ्कटमाधवार्य आचार्य रामानुज का शिष्य था। वेदभाष्यकार वेंकटमाधव वह नहीं हो सकता। वेंकटमाधव के वेदभाष्य में वैष्णव संप्रदाय की गन्ध नहीं है।

डाक्टर स्वरूप का मत

वेंकट माधव के काल के विषय में डा० स्वरूप ने लिखा है[१]—

In my opinion it will not be far from truth to assign Madhava son of Venkata, about the tenth century A.D.

अर्थात् वेंकटमाधव का काल ईसा की दशम शताब्दी के समीप हो सकता है।

यही मत डा० राज का है। उनके शब्द ये हैं[२]—

…he is earlier than Sayana and may have lived about the tenth or ninth century of the Christian Era.

सम्भव है इन महानुभावों का मत ठीक हो, परन्तु मेरा अभी तक इतना ही विश्वास है कि वेंकटमाधव ईसा की १२ वीं शताब्दी अथवा उस से पहले का है। कितना पहले का, यह अभी नहीं कहा जा सकता। यही बात मैंने अन्यत्र भी लिखी थी।[३] हां यदि पूर्वोद्धृत नानार्थार्णव के कर्ता केशवस्वामी का काल संवत् १३०० से बहुत पहले चला जाए, तो वेंकटमाधव का काल भी सुनिश्चित आधार पर कुछ और पहले का हो जायगा। केशवस्वामी किसी कुलोत्तुङ्ग चोल का समकालीन था। इस नाम के दो राजा हो चुके हैं। हमने अभी तक इस नाम के उत्तरवर्ती राजा का ही ग्रहण किया है।

पं० साम्बशिव शास्त्री ने अपनी भूमिका के पृ० ७ पर १०५०–११५० सन् ईसा ही वेंकटमाधव का काल माना है।

दुर्गाचार्य और वेङ्कटमाधव

डा० स्वरूप का मत है कि दुर्ग सायण और देवराज का मध्यवर्ती है।

१—Indices and Appendices, Nirukta, Preface, P. 34.

२—Proceedings, Fifth I. O. C. पृ० २४६।

३—Proceedings and Transactions of the Fifth A. I. O. C. Summaries of Papers. p. 7.

इसके विपरीत हमने अपने इतिहास के इसी भाग के पृ० ६–१४ तक यह बताया है कि देवराज स्कन्द-महेश्वर से परिचित था। और स्कन्द-महेश्वर अपनी टीका के आरम्भ में दुर्ग का स्मरण करते हैं, अतः दुर्ग देवराज से पहले का है। यही नहीं दुर्ग उद्गीथ आदि से भी पहले का है, ऐसा भी हम वहीं दिखा चुके हैं।

अब डा० स्वरूप का विचार है कि वेंकटमाधव के एक श्लोक को दुर्गाचार्य उद्धृत करता है। निरुक्त १। १॥ की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—

तथा चोक्तम्—

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते।
तदक्षरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः। इति

पुनश्चोक्तम्—

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर्भेदे वचनलिंगयोः॥
निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम्।
स्वाम्यर्थोऽथाधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः॥इति॥

इसी प्रकार के श्लोक वेंकटमाधव अपने भाष्य के द्वितीय अष्टक के प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाओं में लिखता है—

शब्दैरुच्चरितैर्द्रव्यं यैरिह प्रतिपद्यते।
तन्नाम कवयः प्राहुरग्निवायुस्तथाश्विनौ॥
अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः।
तन्नाम कवयः प्राहुर्लिंगसंख्यासमन्वितम्॥
निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम्।
स्वाम्यर्थोऽथाधिकरणं विभक्त्यर्थाः प्रकीर्तिताः॥

डा० स्वरूप की सम्मति में पहले दो श्लोक तो वेङ्कटमाधव ने बृहद्देवता के आश्रय से बनाए हैं, परन्तु तीसरा उसकी अपनी कृति है। उनका हेतु यह है कि दुर्ग **पुनश्चोक्तम्** और **इति** लिखकर स्पष्ट बताता है कि ये श्लोक उसने कहीं से लिए हैं। और क्योंकि ये वेङ्कटमाधव के भाष्य में मिलते हैं इसलिए दुर्ग ने इन श्लोकों को वहीं से लिया है।

हमारे विचार में यह बात ऐसे नहीं है। पहले दो श्लोकों का दुर्गस्वीकृत-पाठ ठीक बृहद्देवता से मिलता है। वेङ्कटमाधव का पाठ इससे पर्याप्त भिन्न है। अतः दुर्ग इन दोनों श्लोकों को बृहद्देवता से ले रहा है, वेङ्कटमाधव के भाष्य से नहीं। इसी प्रकार दुर्ग के उद्धरण की शैली से प्रतीत होता है कि अन्तिम दोनों श्लोक भी उसने एक ही स्थान से लिए हैं। वह स्थान बृहद्देवता के अतिरिक्त और कोई नहीं। आजकल के बृहद्देवता से **निर्देशः** श्लोक लुप्त हो गया है। और वेङ्कटमाधव भी पहले दोनों श्लोकों को बृहद्देवता से कुछ बदल कर तथा तीसरे को याथातथ्य उद्धृत करता है।

अथवा ऐसा भी हो सकता है कि दुर्ग और वेङ्कटमाधव इन श्लोकों को निरुक्तवार्तिक से ले रहे हैं। बृहद्देवता और निरुक्तवार्तिक के अनेक श्लोक परस्पर मिलते हैं। यह निरुक्तवार्तिक क्या था, इसका वर्णन निरुक्त का इतिहास लिखने के समय किया जायगा।

याजुषभाष्यकार महीधर और वे० माधव

डा० स्वरूप का लेख है—

···Mahidhara, the commentator of the **Sukla Yajur Veda,** who belonged to c. 1100 A. D., mentions a predecessor Madhava by name. This predecessor of Mahidhara is probably to be identified with Madhava, son of Venkata.

अर्थात् लगभग ११वीं शताब्दी ईसा का शुक्ल-यजुर्वेद-भाष्यकार महीधर अपने पूर्वज एक माधव को स्मरण करता है। यह माधव सम्भवतः वे० माधव होगा।

यह सत्य है कि महीधर यजु० १३।४५॥ के भाष्य में एक माधव का प्रमाण देता है परन्तु वह माधव सायण है अन्य नहीं। इसका विस्तृत उल्लेख महीधर के वर्णन में आगे किया जायगा।

वे०माधव का कुल, ग्रामादि

अपने ऋग्वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो श्लोक वे० मा० ने दिए हैं, उनसे उसके कुल आदि के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

पितामह	=	माधव
पिता	=	वेङ्कटार्य
मातामह	=	भवगोल
माता	=	सुन्दरी
स्वगोत्र	=	कौशिक
मातृगोत्र	=	वासिष्ठ
अनुज	=	सङ्कर्षण
पुत्र	=	वेङ्कट और गोविन्द
निवास	=	दक्षिणापथ में चोल देश। कावेरी के दक्षिण किनारे पर गोमान् ग्राम।[1]
समकालीन राजा	=	एकवीर

क्या वेङ्कटमाधव नाम के दो भाष्यकार थे

देवराजयज्वा ने वे०माधव के नाम से जो अनेक प्रमाण अपने निघण्टु-भाष्य में दिए हैं, वे सब वे०माधव के प्रस्तुत भाष्य में नहीं मिलते। डा० राज के पास

१—देखो, पं० साम्बशिव शास्त्री की भूमिका पृ० ७, ८।

दक्षिणापथ का प्रसिद्ध अर्थ दक्षिण देश है। वे० माधव निम्नलिखित श्लोक में अपने दक्षिणापथ वासी होने का कथन करता है—

अध्यायमष्टमं चांशं व्याख्यदार्येषु कश्चन।
दक्षिणापथमाश्रित्य वर्तमानेषु माधवः॥

अष्टमाष्टक दूसरा अध्याय॥

अर्थात्—दक्षिण देश में रहने वाले आर्यों में से किसी माधव ने आठवें अध्याय का व्याख्यान किया।

डा० स्वरूप को इस श्लोक के समझने में भूल हुई है, उनका अर्थ है—

Madhava follows the southern method in his explanation. Nirukta, Indices, Introduction p. 56.

अर्थात्— अपनी व्याख्या में माधव दाक्षिणात्य विधि का अनुसरण करता है।

निःसन्देह वेदार्थ की कोई दाक्षिणात्य विधिविशेष नहीं थी।

ऋग्वेद के प्रथमाष्टक के एक भाष्य का एक हस्तलेख है। वह भाष्य भी वेंकटमाधव प्रणीत है। उसका कर्ता भी गोमान् ग्राम का वासी है। डा० राज सन् १९२८ के अन्त में जब लाहौर आए थे, तब उन से लेकर मैंने इस भाष्य का सरसरी तौर पर अध्ययन किया था। डा० राज का मत है कि यह कोई दूसरा वेंकटमाधव है और देवराज तथा वेदाचार्य ने जो माधवीयानुक्रमणी-पाठ उद्धृत किए हैं, वे इसी वेंकटमाधव के हैं। हमारा ऐसा अनुमान नहीं है।

सम्भवतः एक ही वे० माधव ने दो ऋग्वेदभाष्य रचे

देवराजयज्वा का जो एक लम्बा प्रमाण हम पृ० २८ पर उद्धृत कर चुके हैं, वह ध्यान देने योग्य है। देवराज लिखता है—

···इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम् ।१।१४।१८॥

अर्थात्—इस मन्त्र पर माधव का प्रथमभाष्य उद्धृत किया जाता है। देवराज के शब्द अति स्पष्ट हैं। वे किसी दूसरी कल्पना का स्थान नहीं छोड़ते। उन से यह भाव प्रकट होता है कि देवराज की दृष्टि में एक ही माधव ने दो भाष्य रचे थे। उन दोनों में से प्रस्तुत भाष्य पहले रचा गया था। इसी में देवराजोद्धृत यह प्रमाण मिल जाता है। इस के रचने के पश्चात् माधव ने दूसरा विस्तृत भाष्य रचा। देवराज और वेदाचार्य से उद्धृत की हुई माधवीयानुक्रमणियों के प्रमाण इसी द्वितीय भाष्य में मिलने चाहिएं। डा० राज के हस्तलेख में ये अनुक्रमणियां नहीं हैं। इस द्वितीय भाष्य के अन्य हस्तलेखों में ये हो सकती हैं। मैसूर राजकीय पुस्तकालय में प्रथमाष्टक के त्रुटितांश पर जो वेंकटमाधव के प्रथमभाष्य का हस्तलेख है, उसमें भी वे कारिकाएं नहीं हैं जो प्रथमभाष्य के दूसरे हस्तलेखों में मिलती हैं।

देवराजयज्वा के उपोद्घात से यही निश्चित होता है कि वह वेंकटमाधव के उस भाष्य का कथन करता है, जिस में देवराज की उद्धृत की हुई अनुक्रमणियों का मूल है। और इसी ग्रन्थ से वह माधव के नाम से अधिकांश प्रमाण देता है। कहीं कहीं उस ने प्रथमभाष्य भी वर्ता है। प्रस्तुत स्थान में तो उस ने **प्रथमभाष्य** शब्द का प्रयोग कर के सारे सन्देह का निवारण कर दिया है।

देवराज यज्वा का वेदभाष्यकार माधवदेव सामवेद विवरणकार माधव प्रतीत होता है।

वे० माधव के प्रथम भाष्य के हस्तलेख

१—त्रिवन्द्रम, राजकीय पुस्तकालयस्थ। प्रथमाष्टक प्रथमाध्याय पर्यन्त।

२—पं० साम्बशिव शास्त्री द्वारा नारायणन् नीलकराठन्नम्पूरि से प्राप्त।

३—मद्रास, राजकीय प्राच्य पुस्तकालयस्थ। इसी की देवनागरी प्रति लाहौर में है। इसमें चतुर्थाष्टक नहीं है, अन्यत्र भी कहीं कहीं त्रुटित है।

४—त्रिवन्द्रम, राजकीय पुस्तकालयस्थ। श्री सुब्रह्मरायन्वलियराज से प्राप्त। अन्तिम चार अष्टक।

५—मैसूर राजकीय पुस्तकालयस्थ। प्रथमाष्टक के तृतीयाध्याय के मध्य से प्रथमाष्टक की समाप्ति तक।

इसी की प्रति दयानन्द कालेज के पुस्तकालय में है। पं० साम्बशिव शास्त्री को मैं ने यही ग्रन्थ भेजा था।

६—त्रिवन्द्रम पुस्तकालयस्थ। श्री ब्रह्मदत्तन् नम्पूरि से प्राप्त। प्रथम और द्वितीयाष्टक सम्पूर्ण।

७—लाहौर, पञ्जाब यूनिवर्सिटी पुस्तकालयस्थ। प्रायः समग्र। इस में चतुर्थाष्टक विद्यमान है।

८—लाहौर, दयानन्द कालेज लालचन्द पुस्तकालयस्थ। प्रायः समग्र। इस में भी चतुर्थाष्टक विद्यमान है।

९, १०—डा० राज के मलयालम में दो ग्रन्थ। एक में पूर्व और दूसरे में उत्तर अष्टकों का भाष्य है।

इस से स्पष्ट है कि लाहौर के हस्तलेखों को छोड़ कर शेष सब प्रायः अपूर्ण हैं। फिर भी इतने ग्रन्थों की सहायता से इस भाष्य का विश्वस्त संस्करण निकाला जा सकता है। मेरे मित्र डा० स्वरूप इस भाष्य के सम्पादन में कृत-सङ्कल्प हैं।

वे० माधव के प्रथमभाष्य की विशेषताएं

(१) यह भाष्य भी याज्ञिकपद्धत्यनुसारी है। स्कन्दादिवत् यह विस्तृत

नहीं है। इस में अत्यन्त संक्षेप से काम लिया गया है। यथा—

ये यजत्रा य ईड्यास्ते ते पिबन्तु जिह्वया।
मधोरग्ने वषट्कृति ॥ ऋ० १।१४।८॥

प्रथमभाष्य—ये यष्टव्याः। ये चेज्याः। **मनुष्या वा ईडेन्याः पितरो नमस्या देवा यज्ञिया** इति ब्राह्मणम्।[1] ते तव जिह्वया सोमस्य वषट्कृतं हुतं पिबन्तु॥

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः।
आयातं रुद्रवर्तनी ॥ ऋ० १।३।३॥

प्रथमभाष्य—दर्शनीयौ युष्मत्पानकामाः सोमाः। **सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः।**[2] **सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः।**[2] वृक्तबर्हिषः सोमाः स्तरणार्थं छिन्नबर्हिषः। आगच्छतं युद्धे घोरगमनमार्गौ॥

मन्त्र के मूल पदों का भाष्य में अत्यल्प समावेश किया गया है। जहां पद अति सरल है और अर्थ का अनायास द्योतक है, वहां पर तो वह लिख दिया गया है।

अपने भाष्य के संक्षेप के विषय में वे० माधव स्वयं गर्व पूर्वक लिखता है—

वर्जयन् शब्दविस्तरम्[3]
शब्दैः कतिपयैरिति।[3]

अर्थात्—इस भाष्य में शब्दविस्तर नहीं है और स्वल्प शब्दों में ही सारा अर्थ कहा गया है।

(२) वेङ्कटमाधव ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अभ्यास में असाधारण यत्न किया था, यह उस के भाष्य से बहुत स्पष्ट है। उस का मत भी है कि ब्राह्मण ग्रन्थों

१—शतपथ १।५।२।३॥ **ईडेन्याः** के स्थान में पं० साम्बशिव शास्त्री **डेन्याः** पाठ मानता है। यह उन की भूल है।

२—निरुक्त ६।१३॥

३—देखो, डा० स्वरूप Indices and Appendices to the Nirukta. पृ० ७०।

के जाने विना वेदार्थ का समझना कठिन है—

अस्माभिस्त्विह मन्त्राणामर्थः प्रत्येकमुच्यते ।
ये ऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः ॥८॥
संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः ।
निरुक्तव्याकरणयोरासीद्येषां परिश्रमः ॥९॥
अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेक्तारः कृतश्रमाः ।
शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वं कथयन्त्यपि ॥१०॥
ताण्डके शाट्यायनके श्रमः शतपथे ऽपि च ।
कौषीतके काठके च स्याद्यस्येह स पण्डितः ॥११॥
ऐतरेयकमस्माकं पैप्पलादमथर्वणाम् ।
तृतीयं तित्तिरिप्रोक्तं जानन् वृद्ध इहोच्यते ॥१२॥
न भाल्लवकमस्माभिस्तथा मैत्रायणीयकम् ।
ब्राह्मणं चरकाणां च श्रुतं मन्त्रोपबृंहणम् ॥१३॥[1]

अर्थात्—इस भाष्य में हम ने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ कहा है। जिन मन्त्रों का अर्थ अज्ञात वा सन्दिग्ध है, उन का वृद्धों=ब्राह्मणग्रन्थ जानने वालों में निर्णय होता है।

आधुनिक विद्वान् जिन का निरुक्त और व्याकरण में परिश्रम है, वे ऋक्संहिता का केवल चतुर्थांश जानते हैं।

और जो ब्राह्मणार्थों के जानने वाले और उन में श्रम किए हुए हैं, वे शब्दरीति को जानते हैं और संहिता का सारा अर्थ कहते हैं।

ताण्ड्य, शाट्यायन, शतपथ, कौषीतकि और काठक ब्राह्मणों में जिस का श्रम है, वह इस लोक में पण्डित कहा जाता है।

हमारा ब्राह्मण ऐतरेय, आथर्वणों का पैप्पलाद, तीसरा तैत्तिरीय, इन को जो जानता है, वह वृद्ध कहाता है। हम ने भाल्लवि, मैत्रायणीय, और चरकों का मन्त्रोपबृंहण करने वाले ब्राह्मण नहीं सुने।

इस से प्रतीत होता है कि वेङ्कटमाधव ने १–ऐतरेय, २–कौषीतकि,

१—अष्टमाष्टक, प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएं।

३–शतपथ, ४–तैत्तिरीय, ५–कठ, ६–ताण्ड्य, ७–शाट्यायन और ८–पैप्पलाद (गोपथ ?) ब्राह्मणों में अभ्यास किया हुआ था। भाल्लवि, मैत्रायणीय और चरकब्राह्मण[1] उसे नहीं मिल सके। इन सब में से इस प्रथमभाष्य में शाट्या-यन ब्राह्मण बहुत उद्धृत है। यह ध्यान रखना चाहिए कि शाट्यायन ब्राह्मण के ये पाठ जैमिनीय ब्राह्मण से बहुत मिलते हैं।

(३) इनके अतिरिक्त वे० माधव के भाष्य में कात्यायन, कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी, जैमिनिकृत निदानसूत्र, निघण्टु, निरुक्त, शौनक, और बृहद्देवता बहुत उद्धृत हैं। अनेक स्थानों पर निरुक्त का पाठ विना निरुक्त या यास्क का नाम स्मरण किए दिया गया है। वे० माधव निरुक्त के लघुपाठ को ही प्रायः उद्धृत करता है।

बृहद्देवता को भी वे० माधव बहुत उद्धृत करता है। उसका पाठ मैक-डानल की A शाखा के प्रायः अनुकूल है। बृहद्देवता का जो पाठ वे० माधव ने लिखा है, वह कई स्थानों पर मैकडानल के पाठ से अधिक अच्छा है। यथा––

मैकडानल का पाठ

एकादशी प्रथमा च मारुतस्तृच उत्तरः।
समागच्छन् मरुद्भिस्तु चरन् व्योम्नि शतक्रतुः ॥४६॥
दृष्ट्वा तुष्टाव तानिन्द्रस्ते चेन्द्रमृषयोऽब्रुवन्।

अर्थात्––एकादशी और प्रथमा ऋचा भी (इन्द्र की हैं।) अगला तृच (ऋ० १।१६५।१३–१५॥) मरुतों का है। शतक्रतु=इन्द्र आकाश में विचरता हुआ मरुतों से मिला। उन्हें देख कर इन्द्र ने उन की स्तुति की। और वे ऋषि इन्द्र से बोले।

ऋग्वेद १।१६५॥ आदि सूक्तों का ऋषि अगस्त्य है, मरुत नहीं। मैकडानल के पाठ के अनुसार मरुत ऋषि थे। यह बात असङ्गत है। इस स्थान पर बृहद्देवता का जो पाठ वेङ्कटमाधव देता है, वह बड़ा प्रशस्य है–

१––चरक ब्राह्मण का अस्तित्व वे० माधव को स्कन्दादिभाष्य से ज्ञात ही था। ऋ० १।१०।११॥ के भाष्य में स्कन्द चरक ब्रा० उद्धृत करता है, परन्तु वे० माधव कोई अन्य ब्रा० लिखता है।

दृष्ट्वा तुष्टाव तानिन्द्रस्ते चैनं मरुतोऽब्रुवन् ।

अर्थात्—उन मरुतों को देख कर इन्द्र ने उन की स्तुति की और वे मरुत् इन्द्र से बोले ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थलों पर वे० माधव का दिया हुआ बृहद्देवता का पाठ मैकडानलस्वीकृतपाठ से अधिक युक्त है ।

(४) अष्टक, अध्याय, वर्ग, मण्डल, सूक्त और मन्त्रों के विषय में वेङ्कटमाधव का विचार देखने योग्य है । अतः वह आगे लिखा जाता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।
उद्ग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥१॥
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः ।
ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ॥२॥
शतैश्चतुर्भिरधिकमयुतं गणितं मया ।
द्वे च यान्यतिरिच्येते द्विपदाश्चात्र संगताः ॥२१॥
पृथग्यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका ।
चतुश्शतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम् ॥२२॥
ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि वै ।
ऋचामशीतिः पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ॥२६॥[1]

अर्थात्—अष्टक, अध्याय (सूक्त, वर्ग आदि) का विभाग पुराने ऋषियों ने संहिता के स्थानों के जानने के लिए किया है । ऐसा हम मानते हैं ।

वर्गों का विभाग भी आर्ष ही है, ऐसा निश्चय है । ब्राह्मणों में वर्ग आदि शब्द देखे जाते हैं ।

मैंने ऋचाओं की गणना १०४०२ की है । इन में द्विपदा सम्मिलित हैं ।

जब द्विपदा पृथक् गिनी जावें, तो १०४८० होती हैं ।

१०५८० ऋचा और एक पाद ऐसा जो (अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदि में) पाठ है, वह युक्त नहीं ।

१—पञ्चमाष्टक पञ्चमाध्याय की भूमिकात्मक कारिकाएं ।

अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदि में किस शाखा की गणना दी है, ऐसा जाने विना ही वे० माधव ने उस गणना का निरादर किया है।

(५) वे० माधव का मत है कि यास्कीय निरुक्त का मूल जो निघण्टु है वह भी यास्कप्रणीत ही है। ऋ० ७।८७।४॥ की व्याख्या में वह लिखता है—

तत्रैकविंशतिर्नामानि काचिद् गौर्बिभर्तीति पृथिवीमाह । तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि ।

अर्थात्—पृथिवी वाची गौ शब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं।

वे० मा० के विषय में अधिक विचार उसके द्वितीय भाष्य के छप जाने पर होगा।

६—**लक्ष्मण** (सं० ११५० के समीप)

शारदातनय ने अलङ्कार पर भावप्रकाशन नाम का एक ग्रन्थरत्न लिखा है। शारदातनय का काल सं० १२३२-१३०७ है।[1] वह अपने मङ्गल श्लोकों में लिखता है—

आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान् ।
मेरूत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः ॥५॥
ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः ।
तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः ॥६॥
त्रिंशता क्रतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित् ।
वेदानां भाष्यमकरोन्नाम्ना यो वेदभूषणम् ॥७॥

अर्थात्—आर्यावर्त देश में मेरूत्तर एक सुन्दर महान् जनपद है। उसके दक्षिण में माठर नाम ग्राम है। उस में एक सहस्र ब्राह्मण रहते हैं। वहां कश्यपगोत्र लक्ष्मण नाम का एक ब्राह्मण था। उसने तीस यज्ञों से विष्णु की संतुष्टि की। वह वेद का जानने वाला था। उसने वेदभूषण नाम का वेदों का भाष्य किया।

१—भावप्रकाशन, भूमिका, पृ० १०।

यह लक्ष्मण शारदातनय का प्रपितामह था। पूर्व श्लोकों में इस बात का निर्देश नहीं है कि लक्ष्मण ने किस किस वेद का भाष्य किया। ऋग्वेद का भाष्य उस ने किया या नहीं, यह भी अभी अनिश्चित है। उस के ग्रन्थ वा ग्रन्थों का अन्वेषण हो, इसी प्रयोजन से हम ने उस का यहां उल्लेख कर दिया है।

शारदातनय का काल सं० १२३२--१३०७ है। अतः उस के प्रपितामह ने इस से लगभग ७५ वर्ष पहले ही अपने वेदभाष्य लिखे होंगे।

७—धानुष्कयज्वा (सं० १३वीं शताब्दी)

त्रिवेदीभाष्यकारेण धानुष्कयज्वना तु चरणशब्दस्सुदर्शनाभिधायीति देवताविशेषस्सुदर्शनमिति स्पष्टं व्याख्यातम्।

यद्वा—महस्वत् अरवत्। एवं धन्वयज्वना व्याख्यातम्।

त्रयीनिष्ठवृद्धेन धानुष्कयज्वना त्रिष्वपि वेदभाष्येषु सप्रमाणमुपन्यस्तः।

ये तीनों लेख वेदाचार्य की सुदर्शनमीमांसा के पृ० ५, ७ और ५६ पर हैं। इन से प्रतीत होता है कि धानुष्कयज्वा अथवा धन्वयज्वा नाम के किसी व्यक्ति ने तीनों ऋग्, यजुः और साम वेदों पर भाष्य किया था। यह धानुष्कयज्वा वैष्णवसम्प्रदाय का आचार्य प्रतीत होता है। इस के भाष्यों का अभी तक हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

८—आनन्दतीर्थ (सं० १२५५–१३३५)

द्वैत सिद्धान्त के सुप्रसिद्ध समर्थक भगवत्पादाचार्य आनन्दतीर्थ ने भी ऋग्वेद पर अपनी लेखनी उठाई है। यही आनन्दतीर्थ पूर्णप्रज्ञ, मध्व आदि नामों से भी प्रसिद्ध है।

काल

आनन्दतीर्थ का काल संवत् १२५५ से १३३५ तक है। अपने महाभारततात्पर्यनिर्णय में वह स्वयं अपनी जन्मतिथि लिखता है—

चतुःसहस्रे त्रिशतोत्तरे गते संवत्सराणां तु कलौ पृथिव्याम् ।
जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो दैत्यैर्निगूढं हरितत्त्वमाह ॥

अध्याय ३२। श्लो० ३१॥

अर्थात्—कलि के ४३०० वर्ष बीतने पर मध्व ने जन्म लिया। मध्व ८० वर्ष जीवित रहा, ऐसा मध्वसंप्रदाय में अब तक प्रसिद्ध है। अतः सं० १२५५–१३३५ तक आनन्दतीर्थ का काल निश्चित होता है।

मध्व के वेदभाष्य का परिमाण

आनन्दतीर्थ का श्लोकमय भाष्य ऋग्वेद के प्रथम चालीस सूक्तों पर ही है। इस प्रकार दो अध्याय सम्पूर्ण और तीसरे के कुछ अंश पर ही मध्व ने अपना भाष्य किया था। राघवेन्द्र यति इस संप्रदाय का एक प्रतिष्ठित आचार्य है। वह अपनी मन्त्रार्थमञ्जरी की भूमिका में लिखता है—

ऋक्शाखागतैकोत्तरसहस्रसूक्तमध्ये कानिचिच्चत्वारिंशत् सूक्तानि भगवत्पादैः ...... व्याख्यातानि ।

कि भगवत्पाद ने चालीस सूक्त ही व्याख्या किए हैं। मध्वभाष्य के जो हस्तलेख मिलते हैं, उन में भी चालीस सूक्तों की व्याख्या की समाप्ति पर लिखा है कि—

ऋग्भाष्यं सम्पूर्णम्

अर्थात्—ऋग्भाष्य समाप्त हुआ।

शैली

आनन्दतीर्थ नारायणभक्त था। उसके मत में नारायण में ही अखिल वेद का अर्थ है। वह अपने भाष्यारम्भ में लिखता है—

स पूर्णत्वात् पुमान्नाम पौरुषे सूक्त ईरितः ।
स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च ॥

वही नारायण सर्वत्र पूर्ण होने से पुरुष नाम से पुरुषसूक्त में कहा गया है। वही सारे वेद का अर्थ है और सारे शास्त्र का भी।

आनन्दतीर्थ के भाष्य का विवरणकार जयतीर्थ भी यही लिखता है कि आनन्दतीर्थ का अभिप्राय वेद का परमात्मपरक अर्थ दिखाने का है। अपने

विवरण के आरम्भ में वह लिखता है—

अतस्तेषां भगवत्परत्वप्रकारप्रदर्शनार्थं कासांचिदृचां भाष्यं करिष्यन् ...प्रयोजनं च दर्शयति।

अर्थात् -वेदों का भगवत्परक अर्थ करने के लिए कुछ ऋचाओं का भाष्य करते हुए, ग्रन्थ का प्रयोजन दिखाता है।

इस अभिप्राय को लेकर आनन्दतीर्थ ऋग्वेदगत प्रथममन्त्रस्थ **अग्नि** शब्द का अर्थ प्रभु करता है—

आह तं स्तौम्यशेषस्य पूर्वमेव हि तं प्रभुम्।

जयतीर्थ के अनुसार आनन्दतीर्थ वेद का तीन प्रकार का अर्थ मानता है—

ऋगर्थश्च त्रिविधो भवति। एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः। अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः। अन्योऽध्यात्मरूपः। तत्त्रितयपरं चेदं भाष्यम्।

अर्थात्— ऋगर्थ तीन प्रकार का है। एक प्रसिद्ध अग्नि आदि का, दूसरा उस के अन्तर्गत ईश्वरलक्षण वाला और तीसरा आध्यात्मिक। यह आनन्दतीर्थ का भाष्य तीनों प्रकार का अर्थ बताता है।

परन्तु आनन्दतीर्थ का प्रधान अर्थ ईश्वरसम्बन्धी ही है।

मध्व-भाष्य की विशेषताएं

(१) अग्नि शब्द के अर्थ में आनन्दतीर्थ बादरायण का निर्वचन उपस्थित करता है—

अग्रणीत्वं यदग्नित्वमित्यग्रे नाम तद्भवेत्।
एवमेवाह भगवान् निरुक्तिं बादरायणः॥

अर्थात्—सब का अग्रणी होने से अग्नि ऐसा कहाता है। यह निर्वचन भगवान् बादरायण ने किया है।

आगे चल कर वह स्पष्ट लिखता भी है कि व्यास का बनाया हुआ कोई निरुक्त ग्रन्थ था—

ऋक्संहितायां स्वाध्याये निरुक्ते व्यासनिर्मिते।

पत्र ३ ख।

इस से प्रतीत होता है कि आनन्दतीर्थ को किसी व्यासविरचित निरुक्त का पता था।

(२) पत्र ३ ख और ४ क ,ख पर आनन्दतीर्थ पैङ्गि श्रुति, बर्क श्रुति तुर श्रुति, आनन्द श्रुति, सौपर्णी श्रुति और मान्य श्रुति को उद्धृत करता है। ये सब श्रुतियां या तो अत्यन्त नवीन खिलों का अंश हैं अथवा कल्पित हैं। आनन्दतीर्थ अपने गीताभाष्य में भी कोई बीस प्रकार की ऐसी ही श्रुतियां उद्धृत करता है।

(३) वेदों के विभाग के विषय में पुराणों के प्रमाण से व्यास का इतिहास लिख कर आनन्दतीर्थ लिखता है—

ऋचः शाखात्वमापन्नाः शिष्यतच्छिष्यकैरिमाः।
मानस्तेनेति पूर्वासु ह्यूनता दृश्यतेऽर्थतः॥
शुनःशेपोदिताभ्यश्च पठ्यन्तेऽन्यत्र काश्चन।
अत्राप्यक्रमतो दृष्टिरिति नैकक्रमो भवेत्॥
अनन्तत्वात्तु वेदानां प्रायः कर्मानुसारतः।
संक्षेपं कृतवान् देवः शिष्याश्च तदनुज्ञया॥
अष्टकाध्यायवर्गादिभेदं च कृतवान् प्रभुः।
स्वाध्यायविश्रमार्थाय तस्मात् क्रमविपर्ययः॥

अर्थात्—यही ऋचाएं व्यास के शिष्य और प्रशिष्यों द्वारा शाखा बनीं। ऋ० २।२३।१६॥ की मा नः ऋचा का पूर्वार्ध अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण है। शुनःशेप की ऋचाएं सारी यहां नहीं, अन्यत्र भी पढ़ी गई हैं। यहां भी क्रम नहीं है। सर्वत्र एक क्रम नहीं है। वेदों के अनन्त होने से (यज्ञों के) कर्मानुसार भगवान् व्यास और उन की आज्ञा से उन के शिष्यों ने वेदों का संक्षेप किया। अष्टक, अध्याय और वर्ग का भेद भी व्यास ने किया। यह विभाग स्वाध्यायकाल में विश्राम के लिए है, इसी लिए शाखाओं में क्रम का विपर्यय है।

इन्हीं श्लोकों के ऊपर जयतीर्थ की टीका का भाव निम्नलिखित है।

"आदि में एक मूल वेद था। उस से उद्धृत कर के ऋचा, निगद आदि उपवेद बने। उन्हीं से ये ऋग्वेदादि शाखाएं बनीं। उन उपवेदों की अपेक्षा

इस ऋग्वेद में कई ऋचाएं कम और कई अधिक हैं। ऋ० २।२३।१६॥ में पूर्वार्ध किसी और ऋचा का है और उत्तरार्ध और ऋचा का। इस से प्रतीत होता है कि कुछ मन्त्र यहां से कम हैं। यह सब पुराण के आश्रय से कहा गया है।"

आनन्दतीर्थ के पूर्वोक्त श्लोकों में वेङ्कटमाधव के लेख की छाया प्रतीत होती है। वेङ्कटमाधव ऋ० ५।५॥ की कारिकाओं में लिखता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः।
उदग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम्॥१॥
वर्गाणामपि विच्छेद आर्ष एवेति निश्चयः॥२॥
अध्ययनाय शिष्याणां विभागो वर्गशः कृतः॥४॥

यदि हमारा अनुमान ठीक है तो वेङ्कटमाधव का काल जानने में यह भी एक सहायक प्रमाण है।

आनन्दतीर्थ का भाष्य सब प्रकार से सांप्रदायिक ही है।

मध्वभाष्य पर जयतीर्थ की टीका

जयतीर्थ मध्व के बीस, पच्चीस वर्ष पश्चात् हुआ है। अर्थात् जयतीर्थ ने संवत् १३६० से अपने ग्रन्थ लिखने आरम्भ कर दिए होंगे। उस ने आनन्दतीर्थ के भाष्य पर अपनी टीका लिखी है।

पूर्व पृ० १७ टिप्पणी २ में जहां जयतीर्थ स्कन्दस्वामी की ओर संकेत करता है, वह हम लिख चुके हैं।

ऋग्वेद १।३।१०॥ में आए हुए **वाजिनीवती** पद पर जयतीर्थ लिखता है—

अविभक्तिको निर्देशः।

इस पंक्ति पर नरसिंह (सं० १७१८) अपनी विवृति में लिखता है—

एतेनान्नमन्नवत् क्रिया वा वाजिनीति माधवव्याख्या प्रत्युक्ता।

इस से प्रतीत होता है कि नरसिंह के अनुसार जयतीर्थ यहां किसी माधव की व्याख्या का खण्डन कर रहा है।

इसी पद पर माधव सायण की व्याख्या ऐसी है—

वाजिनीवतीति अश्ववत्क्रियावती

वेङ्कटमाधव के प्रथमभाष्य में इस पद का व्याख्यान—**अश्ववती**, इतना ही है। द्वितीय भाष्य में उस का व्याख्यान कैसा है, यह हम नहीं कह सकते। अतः यदि जयतीर्थ का अभिप्राय सायण माधव के खण्डन करने ही का था, तो उस का काल कुछ और नीचे करना पड़ेगा।

जयतीर्थ का विवरण उस की योग्यता का अच्छा प्रमाण है।

जयतीर्थ की टीका पर नरसिंह की विवृति

नरसिंह अपनी विवृति के अन्त में लिखता है कि उस ने शक १५८३ अर्थात् संवत् १७१८ में अपनी विवृति लिखी।

नरसिंह वैदिक साहित्य का अच्छा परिडत प्रतीत होता है। उसने काशिका, निरुक्त, एकाक्षरमाला, धातुवृत्ति, जैमिनीय मीमांसा, निघण्टु, अनुक्रमणी, अनुक्रमणिका भाष्य, उणादि, उणादिवृत्ति (पञ्चपादी), अमरकोश, धनञ्जय, विश्व, वररुचि, ब्राह्मण, कैयट, अभिधान, भगवद्गीता, छान्दोग्यभाष्य, न्यायसुधा, उज्ज्वलदत्त (दशपादी वृत्ति) और महाभाष्य का उल्लेख किया है। इनमें से निघण्टु और उणादि को वह बहुधा उद्धृत करता है। पत्र ४६ पर आपस्तम्ब ब्राह्मण और पत्र १४८ पर आपस्तम्ब शाखा से प्रमाण दिए गए हैं। ये क्रमशः तैत्तिरीय ब्राह्मण और सहिता के पाठ हैं।

पत्र २०१ क पर **वाशी** शब्द का अर्थ किया गया है—

काष्ठतक्षणसाधनम्

अर्थात्—लकड़ी छीलने का साधन।

तदनन्तर नरसिंह लिखता है—

कर्नाटकभाषया वाढ्चीति तथा महाराष्ट्रभाषया वासलेति उच्यते।

इससे प्रतीत होता है कि वह कर्नाटक और महाराष्ट्र के समीप ही का रहनेवाला था।

राघवेन्द्र यति की मन्त्रार्थमञ्जरी

राघवेन्द्रयति मध्वसंप्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। उपनिषदों के

भाष्य के सम्बन्ध में इसका नाम सुविख्यात है। उस ने आनन्दतीर्थ के भाष्य का स्वतन्त्र व्याख्यान किया है। वह अपने दूसरे मङ्गलश्लोक में लिखता है—

संग्रहीष्यामि ऋग्भाष्यप्रोक्तानर्थानृचां स्फुटम् ॥

अपनी व्याख्या में वह शाबरभाष्य, चंद्रिका, ऐतरेयभाष्य, अनुव्याख्यान, सूत्रकार कण्ठरव, गीता, कण्वश्रुति आदि को उद्धृत करता है।

ऋ० १।३३।१४॥ में एक पद **नृषाह्याय** है। उसका शाकल्यकृत पदपाठ—**नृऽसह्याय** है। राघवेन्द्र उसका पदपाठ **नृऽसाह्याय** देता है। फिर **नृऽसह्याय** पदपाठ देकर वह लिखता है—

नृऽसह्याय इति त्वध्यापकपदपाठः ॥

यह अध्यापक कौन था, यह जानना चाहिए।

यह मन्त्रार्थमञ्जरी राघवेन्द्रयति की योग्यता का अच्छा परिचय देती है।

नारायण की भाष्यटीकाविवृति

नरसिंह के समान नारायण ने भी जयतीर्थ की टीका पर एक विवृति लिखी थी। उसे वह भावरत्नप्रकाशिका कहता है। इस का एक कोश बड़ोदा में है। देखो संख्या ६४२६। बड़ोदा के सूचीपत्र में इसे राघवेन्द्र का शिष्य लिखा है।

६—आत्मानन्द (लगभग संवत् १२००–१३००)

ऋग्वेदान्तर्गत **अस्य वामीय** सूक्त के भाष्यकार आत्मानन्द का परिचय सब से पहले मैक्समूलर ने अपने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास पृष्ठ १२३ पर दिया था। वह परिचय नाममात्र का था। मैक्समूलर का मत है कि क्योंकि आत्मानन्द स्कन्द, भास्करादि को उद्धृत करता है, और सायण को उद्धृत नहीं करता, अतः वह सायण से कुछ पहले हुआ होगा।

इस प्रश्न पर पूरा विचार करने के लिए आत्मानन्दोद्धृत सब ग्रन्थकारों का ज्ञान हमें आवश्यक है, अतः उन की सूची आगे दी जाती है।

आत्मानन्दोद्धृत ग्रंथ वा ग्रंथकार

स्कन्दभाष्य, उद्गीथ, भास्कर, शौनक, वेदमित्र, बृहद्देवताकार, अनुक्रम-

णिकाकार, विष्णुधर्मोत्तर, निरुक्त, पुष्करोक्तकल्प, भगवद्गीता, महाभारत, पुराण, स्मृति, पदकार, केशवाचार्य (वेदान्तग्रन्थकार), शङ्कराचार्य, वेदान्ती, उपनिषद्, विष्णुपुराण, निघण्टु, संप्रदायज्ञ, योगयाज्ञवल्क्य, वृद्धशौनक, योगग्रन्थ, शाकपूणि (दो बार), पञ्चरात्र, प्रशंसा (वेदप्रशंसा ?), वृद्धमनु, ग्रन्थकार का ज्येष्ठ भ्राता लक्ष्मीधराचार्य, शंख, चन्द्रिकाकार (आह्निक ग्रन्थ), विज्ञानेश्वर, आत्मज्ञान (आत्मबोध), यमस्मृति, हरिवंश, सर्वज्ञ, गदाधर, भट्टाचार्य (कुमारिल ?), नृसिंह-मन्त्रकल्प, महाभागवत, श्वेताश्वतर, शिवधर्मोत्तर, याज्ञवल्क्य (स्मृति), ब्रह्मोपनिषत्परिशिष्ट, वासिष्ठ रामायण, स्कन्दपुराण कालिकाखण्ड, विष्णुरहस्य, तैत्तिरीय, ब्रह्मगीता, टिप्पणकार, पैङ्गिरहस्य, एकाक्षरनिघण्टु, भारद्वाजसूत्र, भोज, वार्तिककार, शङ्कराचार्य शिष्य द्रविडस्वामी, विवरण, वाचस्पति, महायोगशास्त्र, योगमित्र, वामन [वेदान्तग्रन्थकार], गर्भोपनिषद्, वृत्तिकार, सांख्य [कारिका], योगशास्त्र, बह्वृचारण्यक, वासिष्ठ वेदान्तकारिका, रत्नशास्त्र, भोजनिघण्टु, नारदीय पुराण, इतने ग्रन्थ वा ग्रन्थकार इसी छोटे से भाष्य में उद्धृत हैं।

काल

पूर्वोक्त नामों में से भोज, विज्ञानेश्वर और चन्द्रिकाकार ध्यान देने योग्य हैं। चन्द्रिकाकार देवणभट्ट है। उसी ने आह्निककाण्ड भी रचा था। पण्डित पाण्डुरङ्ग वामन काणे के अनुसार विज्ञानेश्वर का काल सन् १०७०-११०० तक है।[1] स्मृतिचन्द्रिका का काल तेरहवीं शताब्दी ईसा का प्रथम चरण है।

आत्मानन्द का ज्येष्ठ भ्राता लक्ष्मीधराचार्य कौन है, यह नहीं कहा जा सकता। वह कल्पतरु [संवत् १२००] का कर्ता लक्ष्मीधर नहीं है। उस लक्ष्मीधर के पिता का नाम भट्टहृदयधर था, और आत्मानन्द के पिता का नाम विष्णुप्रकाशक है।

पूर्वोक्त लेख से इतना तो निश्चित हो जाता है कि आत्मानन्द संवत् १२७५ के अनन्तर हुआ होगा। वेदभाष्यकारों में से आत्मानन्द स्कन्द, उद्गीथ, भास्कर आदि को उद्धृत करता है। सायण का उल्लेख उस ने नहीं किया। इस से

1—History of Dharmasastra, p. 290.

अनुमान हो सकता है कि वह सायण से कुछ पहले हुआ होगा। अतः अधिक प्रमाणों की अनुपस्थिति में अभी तक १४वीं शताब्दी विक्रम आत्मानन्द का काल माना जा सकता है।

भाष्य के हस्तलेख

इस समय तक इस भाष्य के तीन ही हस्तलेख हमारी दृष्टि में आए हैं। एक बड़ोदा में, दूसरा पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में और तीसरा इण्डिया आफ़िस में। बड़ोदा के कोश के अन्त में उस प्रति के लिखे जाने की कोई तिथि नहीं है। लाहौर के कोश के अन्त में लिखा है—

शके १७२४ दुंदुभीना[म]संवत्सरे माहे श्रावण शुध्य ८ भृगुवासरे ॥

यह हस्तलेख केवल १२६ वर्ष पुराना है।

इण्डिया आफ़िस के हस्तलेख के अन्त में भी तिथि नहीं दी गई। परन्तु इण्डिया आफ़िस के ग्रन्थों के सूची बनाने वाले एगलिङ्ग महाशय के विचारानुसार यह कोश लगभग १६५० सन् ईसा का है।

शैली

अपने भाष्यारम्भ में आत्मानन्द लिखता है कि स्कन्द, उद्गीथ और भास्करादि के भाष्य अधियज्ञ विषय के हैं। कहीं कहीं निरुक्त के आश्रय से अधिदैवत विषय के हैं, परन्तु उस का भाष्य विष्णुधर्मोत्तर और शौनकादि के अनुसार अध्यात्मविषय का है। अपने भाष्य की समाप्ति पर वह स्पष्ट शब्दों में पुनः यही लिखता है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तमधिदैवतविषयम्। इदं तु भाष्यमध्यात्मविषयमिति। न च भिन्नविषयाणां विरोधः। अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम्।

इस से कुछ पंक्ति पहले वह लिखता है—

यस्तु शाकपूणियास्कादिनिरुक्तेष्वपि व्याख्याभेद एव।

अर्थात्—शाकपूणि और यास्कादि के निरुक्तों में भी व्याख्याभेद है।

आत्मानन्द शङ्करमतानुयाई अद्वैतवादी है। उस के भाष्य में स्थान स्थान पर अद्वैतमत का भाव प्रकट होता है। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र का आत्मानन्दकृत भाष्य नीचे उद्धृत किया जाता है। इस से उसके भाष्य का प्रकारादि सुविज्ञात हो जायगा।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४६॥

ननु[१] **चत्वारि वाक्** [ऋ० १। १६४। ४५॥] इति वेदार्थानां[२] नानात्वमुक्तम्। तर्हि द्वैतापत्तिरित्याशंक्याह[३]—एकैव देवता परमात्मा। सर्वदेवता[४] एकस्यैव[५] नाना नाम। ग्रहणीत्युच्यते[६] यद्वा **अयः केशिनः** [ऋ० १।१६४।४४॥] इत्यत्र देवतात्रित्वमुक्तम्। तर्हीन्द्रादयो न काश्चिद्देवता[७] इत्याशंक्याह[८] एकैव देवता परमात्मा। सर्वदेवता एकस्यैव[९] नाम[१०]। नामग्रहणी त्रित्वोक्तिस्तु नानादेवतानां त्रित्वसंख्यावरोधार्थं[११] यज्ञादिप्रवृत्यर्थम्। तदुच्यते। इन्द्रं परेशमाहुः। **अहन्नहिं पर्वते[१२] शिश्रियाणं[१२]** [ऋ० १।३२।२॥] इत्यादौ। मित्रं परेशमाहुः। **मित्रो जनान्यातय त ब्रुवाणः[१३]** [ऋ० ३ ५९।१॥] इत्यादौ। वरुणं परेशमाहुः। **शतं ते राजन्भिषजः** [ऋ० १।२४।९॥] इत्यादौ। अग्निं परेशमाहुः। **त्वमग्ने रुद्रः** [ऋ० २।१।६॥] इत्यादौ। अथो[१४] तथा। दिव्यः सूर्यः। तं[१५] परेशमाहुः। **चित्रं देवानाम्** [ऋ० १।११५।१॥] इत्यादौ। सः परेशो[१६] गरुत्मान् सुपर्ण[१६] इत्याहुः।

१—लाहौर, नास्ति।
२—लाहौर, पदार्थानां।
३—लाहौर, ०शंक्य।
४—बड़ोदा, ०देवा।
५—लाहौर, स्यैव।
६—बड़ोदा, ग्रहणं अग्रहणमित्युच्यते।
७—बड़ोदा, किं देवता। लाहौर, किंचिद्देवता
८—लाहौर, ०शंक्य।
९—लाहौर, स्यैव। बड़ोदा, नास्ति।
१०—बड़ोदा, नास्ति।
११—बड़ोदा, ०संख्यायामवरोधार्थं।
१२—बड़ोदा, लाहौर, परिशयानं।
१३—लाहौर, नास्ति।
१४—लाहौर, अथोदकं।
१५—बड़ोदा, तमु।
१६—बड़ोदा, परेशः सुपर्ण।

सौपर्णपक्षममितद्युतिमप्रमेयं छन्दोमयं विविधयज्ञतनुं वरेण्यम्
[?] इत्यादौ। पक्षौ बृहच्च भवतो रथवच्च यस्य तं वैनतेयमजरं प्रणमामि नित्यम् [?] इत्यादौ।[1] इदानीमग्निं परेशमाहुः। अग्निशब्दोऽत्र[2] नेत्राग्निमतो रुद्रस्य वाचकः। **स्थिरेभिरङ्गैः** [ऋ० १।३३।६॥] **अर्हन् बिभर्षि** (?) इत्यादौ। यमं परेशमाहुः। **त्रिकद्रुकेभिः पतति** [ऋ० १०।१४।१६॥] इत्यादौ। मातरिश्वानं परेशमाहुः। **आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः** [ऋ० १०।१६८।४॥] इत्यादौ। इन्दतीति इन्द्रः। इदि परमैश्वर्ये। मितो हिंसातस्त्रायत[3] इति मित्रः। एवं वृणुत इति वरुणः। अङ्गं नयतीत्यग्निः। अङ्गतीत्यग्निः।[4] अगि गतौ णीञ् प्रापण इति गत्यर्था ज्ञानार्थाः। दिवि महापुरुषबुद्धौ द्योतनवत्यां भवो दिव्यः। शोभनो मोक्षपक्षः[5] सुपर्णः। संसारमोक्षाभ्यां[6] गरुत्मान्। रोदयतीति रुद्रः। स एवाग्रणीत्वादग्निः। यमयतीति यमः। येन तुष्टेन[7] मातरि मायायां क्षिप्तो जीवः श्वेव भवति स मातरिश्वा। एकं सद्ब्रह्म। सत् ब्रह्म।[8] विप्रा ब्राह्मणत्वाद्यभिमानिनो[9] यज्ञादिसिद्धये बहुधाभिधानेनेन्द्रादिरूपेणाहुः। योजनान्तरे तु विप्रा मेधाविनः तत्वविदस्तु इन्द्रादिरूपेण बहुधा सद्ब्रह्म एकमाहुः।
कल्पस्तु—

इन्द्रादिशब्दा गुणयोगतो वा व्युत्पत्तितो वापि परेशमाहुः[10]।
विप्रास्तदेकं बहुधा वदन्ति प्राज्ञास्तु नानापि सदेकमाहुः॥

यहां कल्प से पुष्करोक्तकल्प लेना चाहिए।

इस मन्त्र का भाष्य हम ने इसी दृष्टि से दिया है कि इस में यह प्रतिपादित किया गया है कि सारे ही वेद का अर्थ परमात्मा में है। मन्त्रस्थ अग्नि आदि प्रत्येक पद पर आत्मानन्द वेद के ऐसे मन्त्र देता है, जिन में उस के अनु-

---

१—लाहौर, नास्ति।
२—बड़ोदा, ऽत्रनास्ति।
३—लाहौर, हिंसायास्त्रायत।
४—लाहौर, नास्ति।
५—लाहौर, मोक्षः।
६—बड़ोदा, मोक्षपक्षाभ्यां।
७—बड़ोदा, रुष्टेन, पुनः प्रान्ते, सृष्टेन।
८—लाहौर, नास्ति।
९—लाहौर, ब्रह्मत्वा०।
१०—बड़ोदा, वा परमेशमाहुः।

सार अग्नि आदि शब्दों से स्पष्ट परमात्मा का ग्रहण होता है। यही नहीं, जो कल्प आत्मानन्द प्रत्येक मन्त्रभाष्य के अन्त में उद्धृत करता है, वह भी स्पष्ट इसी आध्यात्मिक अर्थ को बताता है। वह कल्प आत्मानन्द से कई शताब्दी पहले का है। मुद्रित विष्णुधर्मोत्तर में वह हमें नहीं मिला। परन्तु है वह विष्णुधर्मोत्तर का ही भाग। इस से प्रतीत होता है कि आत्मानन्द का भाष्य निराधार नहीं है। उस से बहुत पहले वेद का ऐसा आध्यात्मिक अर्थ विद्यमान था।

शाकपूणि से प्रमाण

आत्मानन्द ने जो प्रमाण शाकपूणि से दिए हैं, वे देखने योग्य हैं, अतः वे आगे दिए जाते हैं। ऋ० १।१६४।१४॥ के भाष्य में वह लिखता है—

चक्रं जगच्चक्रं भ्रमतीति वा चरतीति वा करोतीति वा चक्रम् इति शाकपूणिः ।[1]

पुनः मन्त्र ४० के भाष्य में वह लिखता है—

उदकम्—इति सुखनामेति शाकपूणिः ।[2]

इन में से प्रथम प्रमाण शाकपूणि के निरुक्त से है और दूसरा निघण्टु से। इस से प्रतीत होता है कि आत्मानन्द ने शाकपूणि का निरुक्त पढ़ा था। भाष्य के अन्त में उस के इस लेख से कि शाकपूणि और यास्क के निरुक्तों में व्याख्या-भेद है," यही बात ज्ञात होता है।

आत्मानन्द का पाण्डित्य उस के भाष्य से सुविदित है।

मेरी प्रेरणा से आत्मानन्द के भाष्य का सम्पादन हमारे अनुसन्धान विभाग के शास्त्री पं० प्रेमनिधि कर रहे हैं।

१—यह पाठ हम ने लाहौर और बड़ोदा के कोशों से शोध कर दिया है। लाहौर के कोश में यह पाठ २० क पर और बड़ोदा के कोश में रोटो-प्रति के २२ पत्र पर है।

२—बड़ोदा, उदकं कमिति सुख०। शाकपूणि का वास्तविक पाठ क्या था, इस में अभी सन्देह है।

सायण (संवत् १३७२–१४४४)

वैदिक भाष्यकारों में सायण स्थानविशेष लेता है। उस की वैदिक वाङ्मय से प्रियता, उस का विस्तृत अध्ययन, उस का विजयनगर के राज्य को सुदृढ करना, ये सब बातें उस की असाधारण योग्यता की द्योतक हैं।

काल

बड़ोदा, केन्द्रीय पुस्तकालय के संस्कृत-हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में सायण के ऋग्वेदभाष्य का एक कोश है। संख्या उस की १२२११ है। यह चतुर्थाष्टक का भाष्य है। इस का प्रतिलिपि-काल संवत् १४५२ है। इस से यह निश्चित हो जाता है कि सायण संवत् १४५२ से पहले ऋग्भाष्य रच चुका था।

बुक्क प्रथम, कम्पण, सङ्गम द्वितीय, और हरिहर द्वितीय, विजयनगर और उस के उपराज्यों के इन चार राजाओं का मन्त्री सायण रहा है। सायण ऋग्वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर लिखता है—

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक श्रीवीर-बुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

अर्थात्—वैदिकमार्गप्रवर्तक श्री बुक्क महाराज के काल में ऋग्वेदभाष्य रचा गया था।

अपनी सुभाषितसुधानिधि के आरम्भ में सायण लिखता है कि वह कम्प राज का मन्त्री था। धातुवृत्ति, प्रायश्चित्तसुधानिधि, यज्ञतन्त्रसुधानिधि, और अलङ्कारसुधानिधि में वह लिखता है कि वह सङ्गम द्वितीय का मन्त्री था। और शतपथ आदि ब्राह्मणों के भाष्य में वह लिखता है कि वह हरिहर द्वितीय का मन्त्री था।

इन में से बुक्क प्रथम का सब से पुराना शिलालेख शक १२७६ (संवत् १४११) का है।[1]

१—ऐपिग्राफिया इण्डिका भाग ३, पृ० ११५ पर जर्नल, बाम्बे ब्राञ्च रायल एशियाटिक सोसायटी भाग १२, पृ० ३८८ के प्रमाण से।

महाराज हरिहर द्वितीय बुक्क प्रथम का पुत्र था। हरिहर द्वितीय संवत् १४३६ में राज सिंहासन पर बैठा हुआ था। वह संवत् १४३४ में भी राज कर रहा था। मैसूर पुरातत्व विभाग सन् १९१५ की रिपोर्ट में इसी संवत् के उस के एक शिलालेख मिलने की बात लिखी है। हरिहर द्वितीय की मृत्यु-तिथि अभी तक अज्ञात है। परन्तु संवत् १४५६ तक वह राज करता था, ऐसा उसके एक शिलालेख से प्रमाणित होता है।[1] आफ्रेक्ट के मतानुसार सायण का देहान्त संवत् १४४४ में हो गया था।[2] हमने भी इसी तिथि को अभी तक सायण की मृत्युतिथि मान लिया है। सायण ७२ वर्ष जीवित रहा, अतः संवत् १३७२ अनुमानतः उसकी जन्मतिथि होगी।

सायण का कुल आदि

ऐपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ० ११८ पर एक भग्न-शिलालेख का कुछ अंश छपा है। वह शिलालेख काञ्चीवरम के एक मन्दिर में ग्रन्थाक्षरों में है। वह लेख आगे दिया जाता है—

स्वस्ति श्री श्रीमायी जननी पिता तव मुनिर्बोधाय[नो] मायणो···ष्ठो··· ··भूष्णुरनुजः श्रीभोगन[ा]थः कविः स्वा-[मी] [सं]ग[म]भूप[तिः]··· ···पूश्री[क]ण्ठनाथो गुरुर्भारद्वाज-[कु]लेश सा[य]ण गुणैस्वत्त

इस लेख में सायण को सम्बोधन करके कहा गया है कि तुम्हारा गोत्र भारद्वाज है, सूत्र बोधायन है, माता श्रीमायी है, पिता मायण है, कनिष्ठ भ्राता कवि भोगनाथ है, स्वामी संगम है, और गुरु श्रीकण्ठनाथ है।

यही बात सायण के बड़े भ्राता माधव के लेख से स्पष्ट होती है। पराशर-स्मृति की टीका में माधव लिखता है—

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता।
सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरौ॥

१—ऐपिग्राफिया इण्डिका, भाग ३, पृ० ११७॥

२—बृहत्सूची, पृ० ७११॥

यस्य बौधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुषी।
भारद्वाजकुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः ॥

अर्थात्—माता श्रीमती, पिता मायण, सायण भोगनाथ दो छोटे भाई, सूत्र बौधायन, याजुष शाखा, भारद्वाज गोत्र जिसका, ऐसा सर्वज्ञ माधव है।

अलङ्कारसुधानिधि के लेख से भी यही बात ज्ञात होती है—

महेन्द्रवन्माननीयो मंत्री मायणसायणः।
मण्डलेषु कृतचारमण्डलः सायणो जयति मायणात्मजः।
मंत्री मायणसायणस्त्रिजगतीमान्यापदानोदयः।

इति श्रीमत्पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरसमुद्राधिपति बुक्कराजप्रथम-देशिकमाधवाचार्यानुजन्मनः श्रीमत्संगमराजसकलराज्यधुरंधरस्य सकल-विद्यानिधानभूतस्य भोगनाथाग्रजन्मनः श्रीमत्सायणाचार्यस्य कृतावलङ्कारसुधानिधौ

इन पंक्तियों से भी पूर्वोक्त अभिप्राय ही निकलता है।

गत पृष्ठ पर जो शिलालेख उद्धृत किया गया है,उससे पता चलता है कि श्रीकण्ठनाथ सायण का गुरु था। ऋग्वेदादिभाष्यों के आरम्भ में सायण विद्या-तीर्थ को अपना गुरु कहता है। अतः सायण के दो या इस से अधिक गुरु होंगे।

अलङ्कारसुधानिधि से यह भी ज्ञात होता है कि कम्पण, मायण और शिङ्गण नाम के सायण के तीन पुत्र थे। महाराज सङ्गम को उस के बाल्यकाल से सायण ने स्वयं पढ़ाया था। सायण भगवान् व्यास का अवतार था। सायण योधा भी था। किसी चम्पराज पर उस ने विजय प्राप्त की थी—

दिष्ट्या दैष्टिकभावसंभृतमहासंपद्विशेषोदयं
जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशाः प्रत्यागतः सायणः ॥

उस विजय का समाचार अलङ्कारसुधानिधि के इस श्लोक में है।

जनसाधारण में एक भ्रम है कि विद्यारण्यस्वामी या तो सायण था, या माधव। यह नाम संन्यासी होते समय दोनों में से किसी एक ने धारण किया। यह बात सर्वथा भ्रमजन्य है। विद्यारण्य इन दोनों से पृथक् एक तीसरा व्यक्ति था।

इस बात की विस्तृत विवेचना र० राम राव के इण्डियन हिस्टारिकल क्वॉटरली दिसम्बर १९३०, पृ० ७०१–७१७ तथा मार्च सन् १९३१, पृ० ७८–९२ के लेखों में की गई है। सायण सम्बन्धी जो लेख हम ने अब तक किया है, उस का आधार एपिग्राफिया इण्डिका भाग ३, पृ० ११८, ११९ और इण्डियन एण्टीक्वरी सन् १९१६, पृ० १–६ और १७–२४ है।

सायण का ऋग्वेदभाष्य

सायण बड़ा विद्वान् था, इस में किसी को सन्देह नहीं। परन्तु वह राज-मन्त्री भी था। विजयनगर राज्य के मन्त्री के कार्य को करते हुए वह इतनी विपुल-ग्रन्थ-राशि को लिखने के लिए कितना समय निकाल सकता था, यह विचारणीय है। हमारा विचार है कि ऋग्वेद का भाष्य करते समय सायण का सहायक भाष्यकार कोई बड़ा भारी ऋग्वेदीय ब्राह्मण था।

मैक्समूलर अपने उपोद्घात[1] में लिखता है कि ऋ० १।१६४।३१॥ के भाष्य में सायण **अस्मद्ब्राह्मण** कह कर ऐतरेय ब्रा० का प्रमाण देता है। यदि यह बात सच होती तो और भी निश्चित हो जाता कि सायण का सहायक कोई ऋग्वेदीय ब्राह्मण था। तैत्तिरीयशाखाध्येता सायण ऐतरेय ब्राह्मण को **अस्मद् ब्राह्मण** नहीं कह सकता था। परन्तु **अस्मद् ब्राह्मण** वाला प्रमाण ऐ० ब्रा० या तै० ब्रा० दोनों में नहीं है।

संवत् १४४३ का एक ताम्रपत्र है। यद्यपि मूल में उस के कई पत्र रहे होंगे, परन्तु अभी तक उन में से मिला एक ही है। उस में लिखा है कि "वैदिक-मार्गप्रतिष्ठापक" महाराज हरिहर द्वितीय ने तीन ब्राह्मणों को विद्यारण्यश्रीपाद की उपस्थिति में कुछ ग्राम दान किए। ये ब्राह्मण "धर्मब्रह्माध्वन्य" अर्थात्—धर्म और वेद के मार्ग पर चलने वाले थे। वे चारवेदों के भाष्यों के "प्रवर्तक" भी थे। उन के नाम हैं—(१) नारायण वाजपेययाजी, (२) नरहरिसोमयाजी और (३) पण्डरी दीक्षित। सम्भव है इन्हीं ब्राह्मणों की तीन कुलें हों जिन की अब तक भी शृङ्गेरी मठ में प्रतिष्ठाविशेष होती है। संवत् १४३७ का एक और लेख है जिस के अनुसार नारायण वाजपेययाजी को कुछ और दान मिला था।

१—द्वितीय संस्करण, पृ० ५२८।

इन लेखों का उल्लेख मैसूर पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट सन् १६०८ और एपिग्राफिया कार्णाटिका भाग ६ में है। वहीं के प्रमाण से इण्डियन एण्टीक्वरी सन् १६१६ के पृ० १६ पर इन का कुछ वर्णन है। हमारे लेख का आधार इण्डियन एण्टीक्वरी है।

ताम्रपत्रों की पूर्वोक्त घटना से यह अनुमान होता है कि ये तीनों व्यक्ति वेदभाष्यों के करने में सायण के सहायक रहे होगें।

ऋग्वेदभाष्य की रचना में सायण के अनेक सहायक थे, ऐसा विचार परलोकगत डा० गुणे का भी है। देखो सर आशुतोश मुकर्जी सिल्वर जुब्ली वाल्यूम्स, ओरिएण्टेलिया, भाग ३, पृ० ४६७—४७६।

सायण का ऋग्वेदभाष्य याज्ञिकपद्धति का एक उज्ज्वल उदाहरण है। इस के करने में उस ने स्कन्द, नारायण और उद्गीथ के भाष्यों से बड़ी सहायता ली है। दशम मण्डल के उद्गीथभाष्य के कोई तीस सूक्तों के साथ हम ने सायणभाष्य की तुलना की है। उस से सहसा यह बात सिद्ध होती है कि कई स्थानों पर तो सायण उद्गीथ की नकल ही कर रहा है। दो चार शब्द बदल कर वह उद्गीथ का ही भाष्य लिख देता है।

इसी ग्रन्थ के पृ० २३, २४ पर सायणभाष्य के पाठों के विषय में हम जो कुछ लिख चुके हैं, वह भी ध्यान रखने योग्य है। सायणभाष्य का मैक्समूलर का संस्करण यद्यपि बहुत अच्छा है, परन्तु फिर भी उसे अधिक अच्छा करने का स्थान है। इस काम में बड़ोदा के संवत् १४५२ के हस्तलेख की सहायता अवश्य लेनी चाहिए।

कामज और क्रोधज सात मर्यादा हैं। इन के सम्बन्ध में ऋ० १०।५।६॥ पर मैक्समूलर सम्पादित सायणभाष्य में लिखा है—

पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डः पारुष्यमन्यदूषणमिति।

इस पंक्ति पर पाठान्तरों की टिप्पणी में मैक्समूलर लिखता है कि मनु ७।५०,५१॥ के प्रमाण से अर्थदूषणम् पाठ अधिक युक्त है, परन्तु सारे हस्तलेख अन्यदूषणम् की ओर ही संकेत करते हैं। वस्तुतः पाठ अर्थदूषणम् ही चाहिए। कौटल्य अर्थशास्त्र ८।३॥ के अनुसार भी यही पाठ उचित है। इस से प्रतीत

होता है कि सायण के ऋग्वेदभाष्य का पुनः यत्नपूर्वक सम्पादन होना चाहिए। इस समय शाट्यायन ब्राह्मण आदि वे अनेक ग्रन्थ भी मिल चुके हैं, जो मैक्समूलर को नहीं मिल सके और जिन के प्रमाण सायण ने अपने ऋग्भाष्य में दिए हैं। उन का भी नूतन संस्करण में उपयोग करना चाहिए।

सायणकृत-ऋग्भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार

मैक्समूलर ने स्वसम्पादित सायण-ऋग्भाष्य के उपोद्घात में सायणोद्धृत ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। वहीं से लेकर हम इस विषय का आगे निदर्शन करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में से शाट्यायन, कौषीतकि, ऐतरेय, तैत्तिरीय, ताण्ड्य और शतपथ बहुत उद्धृत हैं। सायण चरकब्राह्मण भी उद्धृत करता है। इस का मैक्समूलर ने लेख नहीं किया।

अपनी धातुवृत्ति के सम्बन्ध में ऋ० १।५१।८॥ पर सायण लिखता है—

इत्यस्माभिर्धातुवृत्तावुक्तम्।

अन्यत्र भी सायण धातुवृत्ति को उद्धृत करता है। देखो ऋ० १।४२।७॥ भाष्यप्रस्तावना में वह जैमिनीय न्यायमालाविस्तर को संग्रहश्लोकों के नाम से उद्धृत करता है। न्यायमालाविस्तर उस का अपना रचा हुआ ग्रन्थ नहीं है। यह उस के भ्राता माधव की कृति है। इस के सम्बन्ध में सायण के शब्द देखने योग्य हैं। सायण लिखता है—**आरचयति**। यह पद सायण अपने लिए नहीं लिख रहा।

ऋग्वेदभाष्य लिखने से पहले सायण तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक का भाष्य लिख चुका था।

वेदभाष्यकारों में से भट्टभास्करमिश्र ऋ० १।६३।४॥ पर उद्धृत है। ऋ० ६।१।१३॥ में वह भरतस्वामी का नाम लेता है। ऋ० १।८८।५॥ और ५।१२।३॥ पर स्कन्दस्वामी के भाष्य से प्रमाण मिलते हैं। उद्गीथ का वचन ऋ० १०।४६।५॥ पर मिलता है। माधवभट्ट की पंक्ति ऋ० १०।८६।१॥ पर लिखी गई है।

कपर्दी स्वामी का उल्लेख ऋ० १।६०।१॥ पर मिलता है। ऋ०१।६७॥ की भूमिका में श्रौतसूत्रकर्ता भारद्वाज वर्णित है। आपस्तम्ब सूत्र भी बहुधा उद्धृत है। ऋ० ५।४०।८॥ पर हारिद्रविक ब्राह्मण का नाम मिलता है। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य को भी सायण उद्धृत करता है। यास्कीय निरुक्त और निघण्टु के प्रमाणों से तो यह भाष्य भरा पड़ा है। डा० स्वरूप ने सायणोद्धृत निरुक्त के सारे पाठ एक स्थान में एकत्र कर दिए हैं।[1]

अपने से पूर्व के भाष्यकारों को सायण—**केचन, अन्य आह, अपर आह, कश्चिदाह, संप्रदायविदः** आदि ही कर कर संतुष्ट रहता है। वह उन के नामादि नहीं बताता।

इन के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थकार हैं जिन के प्रमाणों से सायण का भाष्य अलङ्कृत है। उन के नाम भाष्य के पाठ से ही जानने चाहिएं।

पूना में इस भाष्य का नया संस्करण

गतवर्ष पूना से मुझे एक महाशय का पत्र आया था कि वह सायण के ऋग्भाष्य का नया संस्करण तय्यार कर रहे हैं। उस में उन्हों ने लिखा था कि **वाजसनेयकम्** के नाम से जो प्रमाण सायण ने दिए हैं, वे काण्व और माध्यन्दिन दोनों शतपथों में ठीक उन्हीं शब्दों में नहीं मिलते। मेरा भी इस से पहले यही विचार था। वाजसनेयकों के सम्भवतः १५ ब्राह्मण ग्रन्थ थे। सायण उन में से किस का उपयोग करता है, यह हम नहीं कह सकते। आशा है, पूना का नया संस्करण अधिक उपयोगी होगा।

सायण के अन्य ग्रन्थ

सायण रचित जितने ग्रन्थों का अब तक पता लग चुका है, उन का नाम यहां दे देना उचित ही है। इसी लिए अब उन की सूची दी जाती है।[2]

(१) धातुवृत्ति।

(२) वैदिकभाष्य, अर्थात्—तैत्तिरीय, ऋक्, काण्व यजुः, साम, अथर्व संहिताओं के भाष्य। तैत्तिरीय, ऐतरेय, साम अष्टब्राह्मणों के भाष्य, तै० आरण्यक,

---

१—निरुक्त की सूचियां। पृ० २९३—३५२।

२—देखो, इण्डियन हिस्टारिकल क्वॉटरली दिसम्बर १९३०, पृ० ७०६,७०७।

ऐ० आरण्यक भाष्य । ऐ० उपनिषद् दीपिका ।

(३) सुभाषितसुधानिधि ।

(४) प्रायश्चित्त सुधानिधि अथवा कर्मविपाक ।

(५) अलङ्कार सुधानिधि ।

(६) पुरुषार्थ सुधानिधि ।

(७) यज्ञयन्त्र सुधानिधि ।

सायण के राज्य-प्रतिष्ठा-लब्ध होने से ही सायण के वैदिक भाष्यों का बहुत प्रचार हो गया, और इसी कारण से उस के पहले के वेदभाष्य मिलने भी कठिन हो गये । इसे ईश्वर-कृपा ही समझना चाहिए कि सायण का इतना प्रभाव बढ़ जाने पर भी प्राचीन भाष्यों के कुछ हस्तलेख अब मिल गए हैं ।

रावण (सोलहवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

प्रथम सूचना ।

जनवरी १५ सन् १८५५ के एक पत्र में फ़िट्ज़् एडवर्ड हाल बनारस से मैक्समूलर को लिखते हैं[१]—

'क्या आपने रावण का ऋग्भाष्य कभी सुना है । सूर्यपण्डित अपनी परमार्थप्रभा में, जो भगवद्गीता पर एक टीका है, लिखता है कि उसने इसे देखा है । मुझे यह भी कहा गया है कि किसी याजुष शाखा पर भी रावण का भाष्य अभी तक विद्यमान है ।"

पुनः एशियाटिक सोसायटी बंगाल के जर्नल[२] के सन् १८६२ के दूसरे अङ्क में फिट्ज़् एडवर्ड हाल का मुम्बई एप्रिल ११, सन् १८६२ का एक और पत्र छपा है । उस में लिखा है—

'किसी रावण ने वेदों के कुछ भाग पर भाष्य किया, ऐसा संकेत मल्लारि

१—ऋग्वेदभाष्य, प्रथम संस्करण के तीसरे भाग का उपोद्घात । दूसरा संस्करण पृ० ४८ । हम ने मूल में अंगरेजी पत्र का अनुवाद दिया है ।

२—पृ० १२६ ।

करता है। देखो, ग्रहलाघव, कलकत्ता संस्करण, पृ० ५। अजमेर, ग्वालियर और अन्यत्र भी परिडतों ने मुझे बार बार निश्चय कराया है कि उन्होंने रावण भाष्य देखा ही नहीं, प्रत्युत ऋग्वेद और यजुर्वेद पर उन के पास भी सारा रावणभाष्य रहा है। इस विषय में वह मुझे धोका नहीं दे रहे थे।

तदनन्तर हाल महाशय ने रावणभाष्य का उपलब्धांश प्रकाशित किया है।

रावण को स्मरण करने वाले सूर्यपरिडत का परिचय

फ़िट्ज़ एडवर्ड हाल लिखता है, कि भगवद्गीता पर परमार्थप्रपा नाम की टीका लिखने वाले दैवज्ञ सूर्यपरिडत ने लीलावती पर अपनी टीका सन् १५३८ में लिखी थी। अर्थात् इस बात को अब सात कम ४०० वर्ष हुए हैं। लीलावती की टीका के अन्त में सूर्यपरिडत ने स्वयं यह लिखा है।

सन् १९१२ में मुम्बई के गुजराती प्रेस से अष्टटीकोपेत एक गीता छपी है। उस के सम्पादक का नाम है शास्त्री जीवाराम लल्लुराम। उस में सूर्यपंडित की परमार्थप्रपा भी छपी है। उस के अन्त में लिखा है—

गोदोदक्तटपूर्णतीर्थनिकटे पार्थाभिधानं पुरं
तत्र ज्योतिष्कान्वये समभवच्छ्रीज्ञानराजाभिधः।
तत्सूनुर्निगमागमार्थनिपुणः सूर्याभिधानः कविः
कृष्णप्रेरणया तदर्पणधिया गीतार्थभाष्यं व्यधात्॥

अर्थात्—गोदावरी के तट पर पूर्णतीर्थ के निकट पार्थ नाम का नगर है। वहां ज्योतिषियों के कुल में श्री ज्ञानराज नाम का ब्राह्मण था। उसका पुत्र सूर्य नाम का कवि वेद शास्त्र के अर्थ में निपुण था। उसी ने श्री कृष्ण की प्रेरणा से गीताभाष्य रचा।

सूर्यपंडित की गीताटीका की भूमिका से निम्नलिखित बातें ज्ञात होती हैं। सूर्यपंडित का गुरु सम्भवतः चतुर्वेदाचार्य अथवा चतुर्वेदस्वामी था। चतुर्वेदस्वामी ने एक ऋग्वेदभाष्य रचा था। उसका परम गुरु श्री यशोदा-किशोर था।

सूर्यपरिडत-रचित-ग्रन्थ

सूर्यपरिडत ने एक सामभाष्य भी रचा था। गीता ११।३॥ की टीका में

वह लिखता है—

अथ वामदेवस्य साम्नः प्रवृत्तिरापस्तम्बशाखायाम्[1]—विश्वेभिर्देवैः पृतना जयामि......इति । अत्र सामगायने स्तोभस्तोमादिलक्षणमस्माभिः सामभाष्ये प्रोक्तम् ।

गीता ११।५५॥ पर वह लिखता है कि उसने **भक्तिशतक** ग्रन्थ रचा था। गीता ३।४३॥८।१६॥ और १०।३४॥ आदि पर वह अपने रचे **शतश्लोकभाष्य** का नाम लेता है। इस में श्रुतियों की व्याख्या होगी।

सूर्यपंडित की लीलावती टीका का उल्लेख पहले हो चुका है।

सूर्योद्धृत ग्रन्थविशेष।

गीता ६।३२॥ पर वह **सामदर्पण** का नाम लेता है ।१०।३५॥ पर गायत्री मन्त्र की व्याख्या के सम्बन्ध में वह किसी **कण्वसंहिताभाष्यकार** को स्मरण करता है। १७।२३॥ पर वह **सर्वानुक्रमकार** शाकल का नाम लेता है।

रावण का ऋग्भाष्य।

कई विद्वान् सन्देह किया करते हैं कि लेखक प्रमाद से सायण का अंश ही रावण हो गया है। यह बात ठीक नहीं। एक तो रावणभाष्य सायणभाष्य से सर्वथा भिन्न है और दूसरे सूर्यपंडित का निम्नलिखित लेख इस सन्देह को सदा के लिए दूर कर देता है। गीता ११।३३॥ पर वह लिखता है—

सायनभाष्यकारैराधिदैविकाभिप्रायेण बाह्यसंग्रामविषयो दर्शितः । रावणभाष्ये तु अध्यात्मरीत्याभ्यन्तरसंग्रामविषयो दर्शितः । वोटभाष्ये (?) तूभयमपि ।

सूर्यपंडित का यह लेख ऋ० ६।४६।१॥ पर प्रतीत है। इस का अभिप्राय यह है कि सायण का अर्थ आधिदैविक है। रावण का आध्यात्मिक है। वोट पद उवट का नाम प्रतीत होता है। यह मन्त्र यजुर्वेद २७।३७॥ भी है। इस लिए सम्भव है सूर्य के मन में उवट का ध्यान हो।

१—२।५॥ और ८।१६॥ पर भी एक आपस्तम्बसंहिता का प्रमाण उद्धृत है।

यहां रावण और सायण दो भिन्न २ भाष्यकार माने गए हैं।

फ़िट्ज़ एडवर्ड हाल ने रावण का जो मन्त्रभाष्य एकत्र किया है, उस की तुलना मैंने अपने संग्रह से नीचे की है।

हाल	मुद्रित-गीता-टीका	गीता-स्थान
ऋ० १।२२।२०॥	१।२२।२०॥	५।२८॥
१।२२।२१॥	१।२२।२१॥	,,
१।१६४।२०॥	१।१६४।२०॥	८।४॥
३।८।४॥	नास्ति	
१०।७१।६॥	१०।७१।६॥	१०।११॥
१०।७१।८॥	१०।७१।८॥	३।१८॥
१०।७१।६॥	१०।७१।६॥	३।१८॥
१०।७१।१०॥	१०।७१।१०॥	६।३३॥
नास्ति	१०।८१।२॥	६।१०॥
१०।१०७।१॥	१०।१०७।१॥	१८।६८॥
१०।११४।३॥	१०।११४।३॥	७।१४॥
१०।११४।४॥	१०।११४।४॥	७।१४॥
नास्ति	१०।१२६।१॥	६।१०॥
,,	१०।१२६।२॥	६।१०॥

इस प्रकार मुद्रितटीका में रावण के नाम से दिए हुए तीन ऐसे स्थान हैं, जो हाल के हस्तलेख में या तो निर्दिष्ट नहीं थे या उनकी दृष्टि से रह गए हैं। और एक स्थान वहां ऐसा था, जो मुद्रित टीका में निर्दिष्ट नहीं है।

रावणभाष्य के इन अंशों के पाठ से प्रतीत होता है कि रावण शाङ्कर-मतानुयायी वेदान्ती था। उसका भाष्य सरल और योग्यता से लिखा हुआ है। वह आत्मानन्द के पश्चात् हुआ होगा। आत्मानन्द का भाष्य उसी ढंग का है। अतः यदि आत्मानन्द को उस का पता होता तो अपने मत की पुष्टि के लिए वह उस का प्रमाण अवश्य देता।

किसी वेदान्त ग्रन्थ से रावण ने एक श्लोक उद्धृत किया है। यदि उस श्लोक का मूल स्थान ज्ञात हो जाए तो रावण के काल का कुछ निश्चय हो

सकता है। वह श्लोक ऋ० १०।११४।३॥ के भाष्य में है –

यथा स्वप्नमुहूर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः।
तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः॥

रावण-कृत ऋग्वेद का पदपाठ।

ऋग्वेद का प्राचीन पदपाठ शाकल्यकृत है। रावण ने ऋग्वेद का भाष्य ही नहीं रचा, प्रत्युत उसने ऋग्वेद का पदपाठ भी किया था। उस के पदपाठ के सप्तमाष्टक का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है। उस के अन्त में निम्न-लिखित लेख है—

॥इति सप्तमाष्टके ऽष्टमोऽध्यायः॥ इतिरावणकृतपदसप्तमाष्टकः समाप्तिमगात्॥सप्तमाष्टकस्य वर्गा अष्टचत्वारिंशदुत्तरं शतद्वयं २४८ परिधाव्यब्दे १७२६ दुर्मतौ शके १५६४ वर्षतौ आषाढे मासि कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां भृगुवासरे आर्द्रानक्षत्रे हर्षणयोगे शर्वर्यां महाजनी भास्करज्येष्ठात्मजहरिणा लिखितं कर्कस्थयो रविबुधयोः सिंहस्थे गुरौ केतौ च मिथुनस्थे शुक्रे मीनस्थे मंदे कुंभस्थयो राहुमंगलयोर्मिथुनस्थे चंद्रमसि॥

यह हस्तलेख २५६ वर्ष पुराना है। इस से भी निश्चित होता है कि रावण ने वेदविषय में पर्याप्त परिश्रम किया था।

रावणकृत पदपाठ शाकल्य के पदपाठ से कुछ भिन्न है। ऋ० १०।२७।२४॥ में—**मा स्मैतादृक्** का पदपाठ रावण ने **मा। अस्मै। तादृक्।** पढ़ा है। यही पदपाठ उद्गीथ ने स्वीकार किया है, और यही दुर्ग ने निरुक्त ५।१६॥ के व्याख्यान में। देखो, इस ग्रन्थ का पृ० २३। रावण के पदपाठ को किसी शोधक ने पीछे से शाकल्यानुसारी बनाने की चेष्टा की है।

ऋ० १०।१२६।१॥ में शाकल्य दो पद पढ़ता है –**कुह कस्य**। इस के स्थान में रावण अपने भाष्य में लिखता है—

कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य

अर्थात्—रावण **कुहकस्य** एक पद मानता है। वर्तमान ऋग्वेदसंहिता के अनुसार स्वर की दृष्टि से शाकल्य का पदपाठ ही ठीक है, परन्तु सम्भव हो सकता

है कि रावण की दृष्टि में कोई दूसरी शाखा रही हो। यह बात ध्यान से देखने योग्य है कि भिन्न २ शाखाओं में स्वर कितना बदला है।

हमारे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री अपने २६ सितम्बर १६३१ के पत्र में लिखते हैं कि उनकी तीस वर्ष की पुरानी डायरी में यह लिखा है कि रावणाचार्य चतुर्थ शताब्दी ईसा का ग्रन्थकार है।

इस के लिए उनके पास क्या प्रमाण हैं, यह हम नहीं कह सकते। रावणभाष्य ढूंढने के लिए पूर्ण यत्न होना चाहिए।

मुद्गल (संवत् १४७०-१४७६)

फ़िट्ज़ एडवर्ड हाल के जिस पत्र का उल्लेख पृ० ६२ पर किया गया है, उसी पत्र में हाल महाशय ने मैक्समूलर को मुद्गल के ऋग्भाष्य का पता दिया था। मुद्गल के भाष्य के जिस कोश का वर्णन डा० हाल ने किया है, वह अब इण्डिया आफिस में है। एक प्रति मैसूर के राजकीय प्राच्य भण्डार में है। देखो संख्या ४६५० । यह प्रथमाष्टक तक ही है। तीसरी प्रति चतुर्थाष्टक के लगभग पांचवें अध्याय तक की हमारे पुस्तकालय में है। देखो संख्या ५५५७। इण्डिया आफिस की प्रति ॥ **संवत् १४७**—॥ की है। ७ के अगले अङ्क के न होने से इस का ठीक काल नहीं जाना जा सकता। अतः हम ने संवत् १४७०—**१४७६** ही इस के लिखे जाने का काल मान कर वही काल मुद्गल का मान लिया है।

मुद्गल सायणभाष्य का संक्षेप करता है

हाल और मैक्समूलर का कथन है कि मुद्गल सायणभाष्य का संक्षेप करता है। मुद्गलभाष्य में व्याकरण सम्बन्धी सारा व्याख्यान छोड़ दिया गया है। यह बात सर्वथा सत्य है। मुद्गल अपने भाष्यारम्भ में स्वयं इस बात को मानता है—

आलोच्य पूर्वभाष्यं च बह्वृचस्य समन्ततः।
गहनं मन्यमानेन सुबोधेन समुद्धृतम् ॥
नवनीतं यथा क्षीरात् सिकतायाश्च काञ्चनम्।
तथा समुद्धृतं सारं प्राणिनां बोधसिद्धये ॥

मौद्गल्यगोत्रेण च मुद्गलेन ह्यात्मानुभूतेन सुसंस्कृतेन ।
यथार्थभूतेन सुसाधकेन समुद्धृतं सारमिमं वरिष्ठम् ॥

अर्थात्—ऋग्वेद के भाष्य को अच्छे प्रकार देखकर, और उसे कठिन समझ कर मौद्गल्य गोत्र वाले मुद्गल ने यह सुन्दर सार निकाला है। जैसे दूध से मक्खन निकाला जाता है, वैसे ही यह है, इत्यादि । यह भाष्य सायण का ही संक्षेप है, अतः इस के विषय में अधिक नहीं लिखा जाता ।

सायणभाष्य के सम्पादन में मैक्समूलर ने इस से बड़ी सहायता ली थी। सायणभाष्य के भावी सम्पादकों को भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

चतुर्वेदस्वामी (सोलहवीं शताब्दी विक्रम का पूर्वार्ध)।

जैसा पृ० ६३ पर लिखा गया है, चतुर्वेदस्वामी सूर्यपण्डित का गुरु था। सूर्यपंडित का संक्षिप्त वर्णन पृ० ६३-६४ तक कर दिया गया है। सूर्यपंडित के गीताभाष्य के आरम्भ के पाठ से अनुमान होता है कि चतुर्वेदस्वामी ने भी ऋग्वेद पर या कुछ आर्चश्रुतियों पर भाष्य किया था। उसका भाष्य साम्प्रदायिक शैली का कैसा ज्वलन्त प्रमाण है, यह अगली पंक्तियों से दृष्टिगत होगा।

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्वीरो अभिपौंस्यं रणम् ।
अवृश्चदद्रिमिव सस्यदः सृजदस्तभ्नान्नाकं स्वपस्यया पृथुम् ॥

ऋ० १०।११३।४॥

अत्र चतुर्वेदस्वामिकृतभाष्यम्। यः परमेश्वरो **जज्ञानः** प्रादुर्भूतमात्रो मायया बालदशां स्वीकुर्वाणोऽपि सन् **स्पृधः** स्पर्धां कृतवतः शत्रून् पूतनादीन् कंसान्तान् **व्यबाधत** बाधितवान्। न केवलं दैत्यान् अपितु शक्रादीनां गर्वमपीत्याह । यो **अद्रिं** पर्वतं गोवर्धनम् **अवृश्चत्** उद्दधार । किमुदिश्य । **सस्यदो** धान्यदातॄन् मेघाननवरतं वर्षमाणान् **अवसृजत** विसर्जितवान्। तेन **पृथुं** सामर्थ्यवन्तं **नाकम्** इन्द्रलोकम् **स्वपस्यया** मायया **अस्तभ्नात्** स्तम्भितवान् स्तम्भितशक्तिमकरोत्। अथ यौवनदशायामपि **अभि-**

पौंस्यं सर्वपुरुषार्थसाधकं **रणं** कुरुपाण्डवसंग्रामं **वीरो** ऽपि सन् **अपश्यत्** ताटस्थ्येन दृष्टवान् न तु स्वयं युयुधे ।[1]

अर्थात्—उत्पन्न होते हुए ही बालक कृष्ण ने युद्ध में पूतनादि से कंस तक शत्रुओं को मारा, और गोवर्धन पर्वत को उठाया। धान्य देने वाले मेघों की निरन्तर वर्षा को बन्द किया। उसने सामर्थ्यवान् इन्द्रलोक को अपनी माया से स्तम्भित कर दिया। और युवावस्था में भी सब पुरुषार्थों के सिद्ध करने वाले कौरवपाण्डवों के युद्ध को वीर होते हुए भी तटस्थ भाव से देखता रहा। स्वयं युद्ध नहीं किया।

क्या विचित्र अर्थ है, परन्तु श्रीकृष्ण की अटूट श्रद्धा में निमग्न आचार्य को ऐसा अर्थ करके असीम प्रसन्नता हुई होगी। वह चित्त में विचारता होगा कि देखो हमने इस ऋचा का कैसा सुन्दर अर्थ लगाया। आज तक किसी दूसरे आचार्य को यह नहीं सूझा। अस्तु, हम ने तो साम्प्रदायिक भाव दिखाने के लिए ही इस मन्त्र का भाष्य यहां उद्धृत किया है।

देवस्वामी। भट्टभास्कर। उवट

देवस्वामी, भट्टभास्कर और उवट ने भी ऋग्वेद पर अपने भाष्य रचे थे। इन भाष्यों का भी भावी अनुसन्धान करने वालों को पता लगाना चाहिए।

देवस्वामी—हमारे मित्र श्री रामअनन्तकृष्ण शास्त्री ने मुझ से स्वयं कहा था कि उन्होंने एक स्थान पर देवस्वामी के ऋग्वेदभाष्य का कोई अंश देखा है। अपने पत्रों में भी उन्होंने यही बात मुझे लिखी थी। उनके कथन से मुझे कुछ २ विचार होता था कि ऐसा सम्भव हो सकता है। देवस्वामी ने ऋग्वेद पर भाष्य किया, इस अनुमान को निम्नलिखित बातें पुष्ट करती हैं।

१—देवस्वामी ने आश्वलायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य रचे थे। वे दोनों भाष्य अब भी अनेक पुस्तकालयों में मिलते हैं। इस से

१—सूर्यपण्डित के गीताभाष्य का आरम्भ।

सम्भव प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय श्रौत आदि पर भाष्य करने वाले आचार्य ने ऋग्वेद पर भी अपना भाष्य किया हो।

२—महाभारत के दुष्कर श्लोकों पर विमलबोध ने टीका लिखी है। वह महाभारतस्थ अश्विसम्बन्धी श्लोकों की टीका में लिखता है—

मया भोजजन्मेजयाचार्यदेवस्वामिवेदनिघण्टुविभ्राडनुवाकार्थपर्यालोचनेनायमर्थः कृतः।

अर्थात्—मैंने भोज, जन्मेजय, देवस्वामी, वेदनिघण्टु और ऋ० १०।१७१॥ का अर्थ देखने से यह अर्थ किया है।

देवस्वामी ने महाभारत पर टीका लिखी हो, ऐसा कोई साक्ष्य अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। इस से प्रतीत होता है कि विमलबोध का अभिप्राय देवस्वामी के ऋग्वेदभाष्य से हो सकता है।

देवस्वामी का काल।

प्रपञ्चहृदय के दर्शनप्रकरण में लिखा है कि आचार्य देवस्वामी ने सम्पूर्णमीमांसा पर उपवर्षभाष्य के संक्षेपरूप में अपना भाष्य रचा था। यह भाष्य शबरस्वामी के भाष्य का आधार बना। यह देवस्वामी ही यदि ऋग्वेद भाष्यकार देवस्वामी है, तो इसका काल विक्रम से कुछ पूर्व का ही होगा।

भट्टभास्कर—आफर्ट अपने सूचीपत्र भाग २ पृ० ५११ पर भट्टभास्कर के ऋग्वेदभाष्य का पता देता है। भट्टभास्करकृत ऐतरेयब्रा० भाष्य का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है, अतः सम्भव हो सकता है कि ऐतरेय ब्रा० पर भाष्य करने वाले भट्टभास्कर ने ऋग्वेद पर भी अपना भाष्य किया हो।

उवट—डा० राज पाञ्चवीं ओरिएण्टल कान्फ्रेंस के लेख में पृ० २६१ पर लिखते हैं, कि "निघण्टु ३।४।११॥ पर देवराज उवट से एक पंक्ति उद्धृत करता है। वह पंक्ति **अमात्य** पद सम्बन्धी है। अमात्य शब्द यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता में एक वार ही आया है। वहां उवट के भाष्य में देवराजोद्धृत पंक्ति का कोई चिन्ह नहीं है। अमात्य शब्द ऋ० ७।१५।३॥ में भी है। अतः सम्भव हो सकता है कि देवराजोद्धृत पंक्ति उवट के ऋग्भाष्य में हो।"

उवट का ऋग्वेद पर कोई भाष्य था, उसे सिद्ध करने के लिए डा० राज

का यह लेख अपर्याप्त ही है। देवराजोद्धृत उवट की पंक्ति उस के याजुषभाष्य ३।३२॥ में मिलती है। अतः उवट ने ऋग्वेदभाष्य किया, इस के लिए कोई अन्य प्रमाण खोजना चाहिए।

कात्यायनकृत ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी पर किसी उवट का एक भाष्य हमारे पुस्तकालय में है। वह भाष्य बड़ी योग्यता से लिखा गया है। उवट ने ऋक्-प्रातिशाख्य पर भी भाष्य लिखा था। अतः सम्भव हो सकता है कि उस ने ऋग्वेद पर भी भाष्य किया हो।

हरदत्त

हरदत्ताचार्य ने आश्वलायन मन्त्रपाठ पर अपना भाष्य रचा था। उस के कोश मैसूर, मद्रास और त्रिवन्द्रम में मिलते हैं। देवराजयज्वा उसे निघण्टु-भाष्य में कई स्थानों पर उद्धृत करता है। इसी हरदत्त ने—

(१) एकाग्निकाण्ड व्याख्या

(२) आपस्तम्बगृह्यसूत्र व्याख्या, अनाकुला

(३) आपस्तम्बधर्मसूत्र व्याख्या, उज्ज्वला

(४) आश्वलायनगृह्यसूत्र व्याख्या, अनाविला

(५) गौतमधर्मसूत्रव्याख्या, मिताक्षरा भी रची थीं।

हरदत्त के भाष्य का एक नमूना उस के आश्वलायनगृह्य सूत्र १।१।५॥ की व्याख्या में से नीचे दिया जाता है।

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः।

घृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥

ऋ० ८।२४।२०॥

स्तुतिलक्षणां गां वाचं यो न निरुणद्धि तस्मै **अगोरुधाय**। **गविषे** गामिच्छते **द्युक्षाय** द्युःस्थानाय **दस्म्यम्** अनुरूपं स्तुतिलक्षणं **वचः**। **घृतात् मधुनश्च स्वादीयः** स्वादुतरं दर्शनीयं **वोचत** ब्रूत हे मदीया ऋत्विजः पुत्रपौत्रा वा।

अर्थात्—स्तुतिरूपी वाणी को न रोकने वाले के लिए, गौ को चाहने वाले के लिए, वसुस्थानी के लिए, हे मेरे ऋत्वजो अथवा पुत्रपौत्रो, घृत और मधु से भी अधिक मीठी स्तुति रूप वाणी को बोलो।

हरदत्त का आश्वलायन-मन्त्र-भाष्य शीघ्र मुद्रित होना चाहिए।

सुदर्शन सूरि से उद्धृत बह्वृचसंहिताभाष्य

सुदर्शनसूरि अपरनाम वेदव्यास ने सन्ध्यावन्दनमन्त्रभाष्य नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उस में सन्ध्यामन्त्रों की सुन्दर व्याख्या है। उस के पृ० ६ पर यह लिखा है—

यथा—काममूता इति बह्वृचसंहितायाम्। तत्र या कामेन मूर्छिता सा काममूता। इति भाष्यम्।

काममूता पद ऋ० १०।१०।११॥ में आता है। इस पर उद्गीथ, वेङ्कटमाधव और सायण के भाष्य निम्नलिखित हैं—

उद्गीथ—काममोहिता सती। कामेन बद्धा गृहीता वशीकृता सती।

वे० माधव—साहङ्कारमूर्छिता।

सायण—साहं काममूता कामेन मूर्छिता।

इन में से सायण की पंक्तियां सुदर्शन के उद्धृत भाष्य से मिलती हैं। परन्तु जहां तक हमें पता है, आचार्य सुदर्शन सायण से पहले हो चुका था। सुदर्शन ने ही रामानुज के वेदान्तसूत्रभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका नाम की विद्वज्जन-विस्मयोत्पादक टीका लिखी है। भावी विचारकों को अधिक सामग्री के मिलने पर यह ग्रन्थी सुलझानी चाहिए।

दयानन्द सरस्वती (संवत् १८८१–१९४०)

दयानन्द सरस्वती के साथ हम वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के आधुनिक युग में प्रवेश करते हैं। वैदिक विद्या के लिए वह समय नितान्त अनुपयोगी था। इस युग में वैदिक ग्रन्थों का ह्रास हो रहा था। वेदाभ्यासियों की गणना

अङ्गुलियों पर हो सकती थी। काशी सदृश विद्याक्षेत्र में वेदार्थ जानने वाला कठिनाई से मिलता था। वेदों की अनेक शाखाएं लुप्त हो चुकी थीं। जो विद्यमान थीं, वह भी सुलभ न थीं। राजकीय आश्रय का कोई अवसर न था। वह राज्य-सहायता जो सायण और हरिस्वामी आदि को प्राप्त थी, अब प्राचीन काल का स्वप्न हो चुकी थी। वे विद्वान् सहायक जो स्कन्दस्वामी और सायण आदि को अनायास मिल सकते थे, अब खोजने पर भी दृष्टिगत नहीं होते थे। ऐसी अवस्था में दयानन्द सरस्वती ने जन्म लिया।

दयानन्दसरस्वती का जन्म संवत् १८८१ में हुआ।[1] उन की जन्मतिथि के विषय में उन के शिष्य कवि ज्वालादत्त का निम्नलिखित वचन है—

क्षोणीभाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वत्सरे यः
प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्ये ।
मूलेनासौ जननविषये शङ्करेणापरेण-
ख्यातिं प्रापत् प्रथमवयसि प्रीतिदः सज्जनानाम् ॥१॥[2]

अर्थात्—संवत् १८८१ में श्रेष्ठ दक्षिण देश के एक ब्राह्मणकुल में दयानन्द सरस्वती का जन्म हुआ, उन का पहिली आयु का नाम मूलशंकर था।[3]

अध्ययन।

दयानन्द सरस्वती औदीच्य ब्राह्मण था। सामवेदी होने पर भी उसने रुद्राध्याय का पाठ करके यजुर्वेद पढ़ा था। मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष विरजानन्द स्वामी रहते थे। वे व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे। उन से संवत् १९१७-

१—संवत् १९८१ की दयानन्दसरस्वती-जन्म-शताब्दी उत्सव के अवसर पर एक महाशय ने हमसे कहा था कि दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि आश्विन वदी ७ थी। यह तिथि मेरठनिवासी बाबू जैशीरामको स्वामी दयानन्दसरस्वती ने स्वयं बताई थी।

२—फर्रुखाबाद निवासी पं० गणेशदत्तकृत श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या के अन्त में दूसरी वार की छपी, सन् १८८७।

३—बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का मत है कि उनका जन्म नाम मूलजी था।

१६१६ तक दयानन्द सरस्वती ने व्याकरण आदि शास्त्र पढ़े। उनके मृत्यु-पर्यन्त दयानन्द सरस्वती उन से अपनी शंकाओं का समाधान कर लेते थे। उनका देहान्त संवत् १६२५ में हुआ। उनके योग्य शिष्य पं० उदयप्रकाश के पुत्र पं० मुकुन्ददेव ने विरजानन्द स्वामी के मृत्यु-दिन निम्नलिखित श्लोक कहा था। यह श्लोक २८ दिसम्बर सन् १६१६ को मथुरा में उन्होंने स्वयं मुझे लिखाया था—

इषुनयननवदमाहायने वैक्रमार्के
सुरनुतपितृपक्षे कामतिथ्यां मृगांके।
सकलनिगमवेत्ता दण्ड्युपाख्यः सुधीन्द्रः
समगत सुरलोके देवराजेन साकम्॥

अर्थात्—विक्रम संवत् १६२५ मास आश्विन वदी १३ सोमवार को विरजानन्द उपनाम दण्डी स्वामी का देहान्त हुआ।

दयानन्द सरस्वती के विषय में रुडल्फ हार्नले का लेख।

सन् १८७० मास मार्च के क्रिश्चियन इण्टैलीजैन्सर में प्रो० रुडल्फ हार्नले ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था। उस के कतिपय वाक्य नीचे लिखे जाते हैं—

He is well versed in the Vedas, excepting the fourth or Atharva Veda, which he had read only in fragments, and which he saw for the first time in full when I lent him my own complete Ms. copy....................he is an independent student of the Vedas, and free from the trammels of traditional interpretation. The standard commentary of the famous Sayanacharya is held of little account by him.

अर्थात्–दयानन्द सरस्वती का अथर्ववेद को छोड़ कर शेष वेदों में अच्छा अभ्यास है। उसने अथर्ववेद के कुछ भाग ही पढ़े हुए थे। सम्पूर्ण अथर्ववेद उसने पहली वार तभी देखा, जब मैंने अपना हस्तलेख उसे दिया। वह वेदों

को स्वतन्त्ररूप से पढ़ता है और परम्परागत (मध्यम कालीन) पद्धति की परवा नहीं करता। प्रसिद्ध सायणाचार्य का भाष्य उस की दृष्टि में किसी काम का नहीं है।

संवत् १९३३ में दयानन्दसरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य करना आरम्भ किया। वेदभाष्यप्रचारार्थ विज्ञापनपत्र में वह स्वयं लिखते हैं—

इदं वेदभाष्यं संस्कृतार्यभाषाभ्यां भूषितं क्रियते।
कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले।
प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया॥
तदिदमिदानीं पर्यन्तं दशसहस्रश्लोकप्रमितं तु सिद्धं जातम्। तच्चेदं प्रत्यहमग्रेऽग्रे न्यूनान्न्यूनं पञ्चाशच्छ्लोकप्रमितं नवीनं रच्यत एवमधिकादधिकं शतश्लोकप्रमाणं च।[1]

अर्थात्—यह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा जो कि काशी प्रयाग आदि मध्यदेश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है। इस में संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्यभाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसा सरल है कि जिसको साधारण संस्कृत को पढ़ने वाला भी वेदों का अर्थ समझ ले। तथा भाषा का पढ़ने वाला भी सहज में समझ लेगा। संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन इस भाष्य का आरम्भ किया है सो संवत् १९३३ मार्गशिर शुक्ल पौर्णमासी पर्यन्त दश हजार श्लोकों के प्रमाण भाष्य बन गया है। और कम से कम ५० श्लोक और अधिक से अधिक १०० श्लोक पर्य्यन्त प्रति दिन भाष्य को रचते जाते हैं।[2]

पुनः उसी विज्ञापन में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सम्बन्ध में लिखा है—

भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के मिल के आठ हजार हुऐ हैं। इस में सब विषय विस्तार पूर्वक लिखे हैं।

ऋग्वेदभाष्य का नमूना संवत् १९३३ में छप गया था।

१—भगवद्दत्त सम्पादित, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग, पृ० ५६।

२—तथैव पृ० ५८।

भूमिका संवत् १९३४ में मुद्रित होनी आरम्भ हुई थी और संवत् १९३५ में मुद्रित हो गई थी। वेदभाष्य की रचना संवत् १९३३ में आरम्भ हो गई थी। उस के विषय में ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेदसंस्तावना या
संपूर्येशं निगमनिलयं संप्रणम्याथ कुर्वे ।
वेदत्र्यङ्के विधुयुतसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभौमे
ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम् ॥

अर्थात्—जो चारों वेदों की प्रस्तावना विद्यानन्द को देती है, उसे समाप्त कर के वेद के निलय परमेश्वर को नमस्कार कर के संवत् १९३४ मार्गशुक्ल ६ मंगलवार के दिन संपूर्ण गुणगुणी के ज्ञान को देने वाले ऋग्वेद भाष्य का आरम्भ करता हूं।

यह वेदभाष्य मुद्रित होकर मासिक अङ्कों में निकला करता था। इसका प्रथमाङ्क संवत् १९३५ में छप गया था। दयानन्द सरस्वती का देहावसान संवत् १९४० की दीपमाला के दिन हुआ था। उस के पश्चात् भी यह वेदभाष्य मुद्रित होता रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋ० ७।६१।२॥ तक यह भाष्य किया हैं।

दयानन्द सरस्वती का ऋग्भाष्य।

दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उन की असाधारण योग्यता का जीवित प्रमाण है। वेद का अभ्यास करने वाले दयानन्द सरस्वती के विचार से कितने ही असहमत हों, परन्तु भूमिका का पाठ कर के वह एक वार मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा करने लग पड़ते हैं। मैक्समूलर लिखता है—

"We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rig-Ved and ending with Dayanada's Introduction to his edition of the Rig-veda, his by no means uninteresting Rig-veda-bhumika, into two great periods:"[1]

1—India what can it teach us, Lecture III.

अर्थात्—संस्कृत वाङ्मय का आरम्भ ऋग्वेद से है और अन्त दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर। यह भूमिका किसी प्रकार भी अरुचिकर नहीं।

वेदभाष्यभूमिका और वेदभाष्य में दयानन्द सरस्वती का मुख्य बल इस बात पर है कि वेदों में एकेश्वर उपासना है। नैरुक्तों के तीन देवताओं की पूजा का,[१] याज्ञिकों के तेतीस देवताओं की स्तुति का[१] और पाश्चात्य लोगों की अग्नि आदि जड़ पदार्थों की आराधना का वेद में विधान नहीं है। वेद में अग्नि आदि नामों से शुद्ध रूप से परमात्मा का वर्णन है। वेदमन्त्रों की औपनिषदी व्याख्या दयानन्द सरस्वती के पक्ष की परम सहायक है।

इस विषय में अनुभवी योगी, वीतराग श्री अरविन्द घोष का लेख पढ़ने योग्य है। वह नीचे दिया जाता है—

It is objected to the sense Dayananda gave to the Veda that it is no true sense but an arbitrary fabrication of imaginative learning and igenuity, to his method that it is fantastic and unacceptable to the critical reason, to his teaching of a revealed Scripture that the very idea is a rejected superstition impossible for any enlightened mind to admit or to announce sincerely.

I shall only state the broad principles underlying his thought about the Veda as they present themselves to me.

To start with the negation of his work by his critics, in whose mouth does it lie to accuse Dayananda's dealing with the Veda of a fantastic or arbitrary ingenuity? Not in the mouth of those who accept Sayana's traditional interpretation. For if ever there was a monument of arbitrarily erudite ingenuity, of great learning divorced, as great learning too often is, from sound judgment and sure taste and a faithful

---

१—नैरुक्त और ब्राह्मणों के प्रवक्ता ब्रह्म के उपासक थे, परन्तु उन ग्रन्थों का जो संकुचित अर्थ अब समझा जाता है, हमारा संकेत उस की ओर है।

critical and comparative observation, from direct seeing and often even from plainest common sense or of a constant fitting of the text into the Procrushean bed of preconceived theory, it is surely this commentary, otherwise so imposing, so useful as first crude material, so erudite and laborious, left to us by the Acharya Sayana. Nor does the reproach lie in the mouth of those who take as final the recent labours of European scholarship. For if ever there was a toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenious speculation, in which doubtful indications have been snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the scantiest justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived prejudice maintained in face of the clear and often admitted suggestions of the text, it is surely this labour, so eminently respectable otherwise for its industry, good will and power of research, performed through a long century by European Vedic scholarship.

What is the main positive issue in this matter? An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayananda's view is quite clear, its foundation inexpugnable. The Vedic hymns are chanted to the One deity under many names, names which are used and even designed to express His qualities and powers. Was this conception of Dayananda's arbitrary conceit fetched out of his own too ingenious imagination? Not at all; it is the explicit statement of the Veda itself; "One existent, sages" not the ignorant, mind you, but seers, the men of knowledge,—"speak of in many ways, as Indra, as Yama, as Matarisvan, as Agni," The

Vedic Rishis ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope than Roth or Max Muller, and this is what they knew.

We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production, this loftier idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorant fire-worshipers, sun-worshipers, sky-worshipers from their cultured and philosophic Dravidian enemies. But throughout the Veda we have confiramatory hymns and expressions: Agni or Indra or another is expressly hymned as one with all the other gods. Agni contains all other divine powers within himself, the Maruts are described as all the gods, one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, most commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Superme Deity. Ah, but that cannot mean, ought not to mean, must not mean the worship of One; let us invent a new word, call it henotheism and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and lend a more gracious ear for so hyperbolic a compliment! But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this new fangled monstrosity of henotheism? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions and if you allow them to have so risen you imperil our theory of evolutionary stages of the human development and you destroy our whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself,

common sense disappear from the field so that a theory may flourish ! I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?

But if this fundamental point of Dayananda's is granted, if the character given by the Vedic Rishis themselves to their gods is admitted, we are bound, whenever the hymns speak of Agni or another, to see behind that name present always to the thought of Rishis the one Supreme Deity or else one of His powers with its attendant qualities or workings. Immediately the whole character of the Veda is fixed in the sense Dayananda gave to it ; the merely ritual, mythological, polytheistic interpretation of Sayana collapses, the merely meteorological and naturalistic European interpretation collapses. We have instead a real scripture, one of the world's sacred books and the divine word of a lofty and noble religion.

अर्थात्[१]—दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक शंकाएं की जाती हैं। ········मैं दयानन्द के वेदभाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आए हैं।

सायणभाष्य को ठीक समझने वाले लोग दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महा विद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्व वाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उन का परिश्रम, शुभेच्छा, अनुसन्धान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक अर्थ नहीं, क्योंकि इस में पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है, और सन्दिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मान कर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिए। इस विषय में दयानन्द सरस्वती

१—हम ने श्री अरविन्द के लेख का भावमात्र दिया है। वैदिक मैगज़ीन, १९१६।

का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है। वेद के सूक्त भिन्न भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन कर के गाए गए हैं। विप्र, अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नए काल का है। ऐसा ऊंचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इस के विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं, इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। अहो वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए, निस्संदेह ऐसे अर्थ से उन का चिरकाल से प्राप्त विचार हटता है। अतः सत्य को छिपाना चाहिए। मैं पूछता हूं, इस बात में, इस मौलिक बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है या पाश्चात्य विद्वान्।

इस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त के मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इस से निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ, या सायण का बहुदेवतावाद आदि का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मलियामेट हो जाता है। इन के स्थान में वेद एक वास्तविक धर्मग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।

अपने वेदभाष्य के विषय में दयानन्दसरस्वती का निम्नलिखित लेख भी देखने योग्य है—

परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैर्यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। .... तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसारतो हि प्रकाशः करिष्यते। ....एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि॥[१]

अर्थात्—दयानन्द सरस्वती की प्रतिज्ञा है कि उन के भाष्य में कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डों का विस्तार से वर्णन नहीं होगा। ये विषय ब्राह्मणों, उपनिषदों और दर्शनों आदि में विस्तार से कहे गए हैं। उन का पुनः कहना पिष्टपेषण है। अतः इस भाष्य में वैदिक मन्त्रों का प्रायः मूलार्थ ही होगा।

सायणादि के सम्बन्ध में दयानन्द सरस्वती की सम्मति।

सायण और योरुप के अनुवादकों के विषय में दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यदीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्माभिरपि स्वीक्रियन्ते, गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात्। तेषां ये दोषाः सन्ति ते ऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते।[२]

अर्थात्—पूर्वभाष्यकार सायण आदिकों के गुणों को मैं स्वीकार करता हूं। परन्तु उन के दोषों का खण्डन करता हूं।

इस से आगे रावण, उवट, सायणमाधव, और महीधर का नाम लेकर लिखा है, कि इन के अनेक समान दोष हैं। अतः एक का खण्डन होने से सब का खण्डन जानना चाहिए। और इन से भी अधिक दोष पाश्चात्य अनुवादकों के हैं।

संवत् १९३३ में जब वेदभाष्य का नमूना छप गया, तो पंजाब यूनिवर्सिटी के परामर्श पर प्रो० ग्रिफिथ, प्रो० टानि, पं० गुरुप्रसाद प्रधान पंडित ओरिएण्टल कालेज लाहौर, और पंडित भगवान दास अध्यापक गवर्नमेण्ट कालेज लाहौर ने उस पर समालोचनाएं लिखीं। कलकत्ता के पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रतिज्ञाविषय।

२—वेदभाष्य का नमूना, पृ० ७

ने भी एक विस्तृत समालोचना मुद्रित कराई । उन सब का उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दिया। इन सब में से पं० महेशचन्द्र के आक्षेप कुछ अधिक बलवान् थे। उनका उत्तर भ्रान्ति निवारण पुस्तिका में कार्तिक शुक्ला २, संवत् १९३४ को दिया गया।

यह उत्तर इतना सारगर्भित है कि पढ़ कर वेदविषय में बहुत ज्ञान होता है।

पं० गुरुप्रसाद ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के **विदधीमहि** और **विदामहे** प्रयोगों को अशुद्ध बताया था । इन के शुद्ध होने में दयानन्द सरस्वती ने पाणिनि, कैयट, नागेश, रामाश्रम और अनुभूतिस्वरूपाचार्य के कथन प्रस्तुत किए, और इन के अनुसार इन दोनों प्रयोगों को शुद्ध बताया।

स्वा० दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर इण्डियन नेशनल कांग्रेस के जन्मदाता मिस्टर ह्यूम ने भी एक लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था। उस का उत्तर भी स्वा० दयानन्द सरस्वती की ओर से छपा था ।[1] ऐसी ही और भी अनेक घटनाएं इस भाष्य के सम्बन्ध में हैं, परन्तु विस्तरभय के कारण हम उन्हें यहां नहीं लिखते।

भाष्य की विशेषताएं।

१—इस भाष्य में वेदों के अनादि होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। ब्राह्मणग्रन्थों और मीमांसा में जो विषय सूक्ष्मरूप से था, वह यहां सुस्पष्ट है।

२—वेदों में लौकिक-इतिहास का अभाव है, यह भी दयानन्द सरस्वती ने अच्छे रूप से दिखाया है।

३—वेदों के शब्द यौगिक और योगरूढ हैं, रूढि नहीं, यह इस भाष्य की आधारशिला है। अग्नि आदि शब्दों से किस प्रकार परमात्मा का ग्रहण होता है, उस की विवेचना प्रथम मन्त्र के भाष्य में की गई है। जो प्रमाण इस अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत किए गए हैं, वे देखने योग्य हैं। मानो प्रमाणों की एक माला बना दी गई है । ऋग्वेद से लेकर मनुस्मृति और मैत्रायणी उपनिषद् तक के प्रमाण इस माला की मणियां हैं।

१—देखो, ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, भाग १ पृ० ४५,४६ ।

४—वाचकलुप्तोपमालंकार से अनेक मन्त्रों का भावार्थ खोला गया है। अर्थात्—उषा के समान स्त्री, मित्र के समान अध्यापक, वरुण समान उपदेशक, इत्यादि।

५—स्वा० दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त है, कि जहां जहां उपासना का विषय है, वहां वहां अग्नि आदि शब्दों से ईश्वर का अभिप्राय है। अन्यथा इन्हीं शब्दों से भौतिक पदार्थों का ग्रहण किया जा सकता है।

६—कहीं कहीं दयानन्दसरस्वती ने शाकल्य से भिन्न पदपाठ स्वीकार किया है।

७—देवता भी कहीं कहीं सर्वानुक्रमणी से भिन्न माने हैं।

८—शतपथादि ब्राह्मण और निरुक्त निघण्टु तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य के प्रमाणों से यह भाष्य भरा पड़ा है।

९—एक एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं, जैसे इन्द्र के अर्थ परमात्मा, सूर्य, वायु, विद्वान् राजा, जीवात्मा आदि किए गए हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती की असाधारण विद्वत्ता, अलौकिक प्रतिभा, असीम ईश्वरप्रेम और परम वेद-भक्ति इस भाष्य के पाठ से एक विपक्षी के हृदय पर भी अङ्कित हो जाती हैं।

नवीन भाषा-भाष्यकार

इन भाष्यों के अतिरिक्त ऋग्वेद के बहुत से भागों पर परलोकगत पं० शिवशङ्कर काव्यतीर्थ, पं० आर्यमुनि, स्वर्गीय राय शिवनाथ अग्निहोत्री आदि महानुभावों ने भी अपने भाष्य इस आधुनिक काल में लिखे हैं, परन्तु उन का महत्त्वविशेष न होने से उन का यहां वर्णन नहीं किया गया।

श्री अरविन्द घोष ने भी ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की व्याख्या लिखी है। वह व्याख्या अङ्ग्रेजी भाषा में है, अतः उस का भी यहां उल्लेख नहीं किया। जब वेदार्थ के प्रकार की विस्तृत विचारणा होगी तो उस की और अन्य पाश्चात्य अनुवादों की विवेचना की जायगी।

ऋग्वेद सम्बन्धी इतने भाष्यकारों का इतिहास लिख कर अब याजुष भाष्यकारों का इतिहास लिखा जाता है।

द्वितीय अध्याय

यजुर्वेद के भाष्यकार

(१) शौनक

यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता का ३१वां अध्याय पुरुषसूक्त कहाता है। उवट ने इस सूक्त पर अपना भाष्य नहीं लिखा। उस के पास इस का कोई प्राचीन भाष्य था। उस के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्

अर्थात्—इस सूक्त का भाष्य शौनक नाम ऋषि ने किया था। वह भाष्य किसी क्रम से था। उस क्रम का उल्लेख भी उवट करता है—

प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थ-व्याख्येति।

अर्थात्—इस भाष्य में पहले पदच्छेद, फिर अन्वय, फिर समास का खोलना और फिर प्रमेयार्थ व्याख्या है।

शौनक का पुरुषसूक्तभाष्य

उवट का विचार है कि शौनकानुसार इस सूक्त का मोक्ष में विनियोग है। शौनक का भाष्य बड़ा उत्कृष्ट है। इस में वेदान्त की झलक है। इस भाष्य में याज्ञिक और आध्यात्मिक पद्धति का मेल है। **केचित्** और **अपरे** कह कर दूसरों का मत भी दिया गया है। कहीं कहीं नैरुक्त पद्धति का अर्थ भी किया गया है। यथा १६वें मन्त्र के भाष्य में लिखा है –

एवं योगिनो ऽपि दीपनाद्देवाः

अर्थात्—इस प्रकार योगी भी दीप्तिमान होने से देवता कहाते हैं।

पुरुषसूक्त का यह शौनकभाष्य उवट के काशी के हस्तलेखों में नहीं है। इस से इस के प्राचीन होने का भी कभी कभी सन्देह होता है।

उवट के लेख से प्रतीत होता है कि यह भाष्य पर्याप्त प्राचीन काल का है। इस भाष्य का कर्ता शौनक यदि ऋषि न भी हो, और साधारण व्यक्ति ही हो तब भी यह भाष्य पुराना है। इस भाष्य के पाठ से प्रतीत होता है कि जितना

हम पुराने काल में जाते हैं, उतना ही वेदों का गौरवयुक्त अर्थ हमारे सामने आता है।

शौनक का पदविच्छेद करना उस के काल में पदपाठों के अभाव का सन्देह उत्पन्न करता है। यदि ऐसा ही है, तो वह अवश्य कोई ऋषि होगा।

इस भाष्य में एक दो स्थलों पर वैष्णव संप्रदाय की छाया भी है। देखो मन्त्र १६ का भाष्य।

---

(२) हरिस्वामी (संवत् ६३८)

पृ. २, ३ पर आचार्य हरिस्वामी के काल के विषय में लिखा जा चुका है। इस के शतपथ भाष्य का वर्णन इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ. ३६,४० पर हो चुका है। हरिस्वामी ने कात्यायनश्रौत पर भी अपना भाष्य लिखा था। उस का वर्णन आगे होगा।

क्या हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भाष्य किया

अभी तक हम यह नहीं कह सकते कि हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भाष्य किया था, या नहीं। हां, जम्बू के रघुनाथ-मन्दिर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में एक ग्रन्थ का उल्लेख है। संख्या उस की ४५०६ है। वह रुद्राध्याय का पदपाठ है। उस के सम्बन्ध में उक्त सूचीपत्र में लिखा है कि वह हरिस्वामि-मतानुसारी है। इस से अनुमान होता है कि हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भी अपना भाष्य लिखा होगा।

---

(३) उवट (संवत् ११०० के समीप)

काल

शुक्ल-याजुष-सम्प्रदाय का प्रसिद्ध भाष्यकार उवट महाराज भोज के काल में हुआ है। अपने यजुर्वेदभाष्य के अन्त में वह स्वयं लिखता है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्।
मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति ॥

अर्थात्— आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र उवट ने सुनिश्चित पद वाक्यों से भाष्य किया। ऋष्यादियों को नमस्कार कर के अवन्ती में रहते हुए उवट ने मन्त्रभाष्य किया, जब भोज राज्य कर रहा था।

यही श्लोक स्वल्प पाठान्तरों के साथ अन्य हस्तलेखों के भिन्न भिन्न अध्यायों के अन्त में भी आए हैं। वे नीचे दिये जाते हैं। बड़ोदा के हस्तलेख संख्या १०४४७ के अन्त में लिखा है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ॥[1]

पूना के हस्तलेख संख्या २३२ के दशम अध्याय के अन्त में लिखा है—

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य ह्यवन्त्या उवटो वसन्।
मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राज्यं प्रशासति ॥

काशी-मुद्रित वाराणसीस्थ राजकीय संस्कृतपाठशालीय उवट भाष्यानुसारी पाठ में १३वें अध्याय के अन्त में लिखा है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना।
उवटेन कृतं भाष्यमुज्जयिन्यां स्थितेन तु ॥

इन श्लोकों के देखने से निश्चित होता है कि उवट ने महाराज भोज के राज्यकाल में यह भाष्य लिखा था। भोज का राज्यकाल संवत् १०७५-१११७ तक माना जाता है। अतः संवत् ११०० के समीप ही उवट ने यह भाष्य लिखा होगा।

उवट का कुल

उवट का नाम प्राचीन कोशों में उव्वट भी लिखा हुआ है।[2] उवट नाम

---

१ — निरुक्त, डा. स्वरूप की सूचियां, पृ. ७२।

हमारे पुस्तकालय के कोश संख्या ३९६२ के २०वें और ३०वें अध्याय की समाप्ति पर भी यही श्लोक है।

२—हमारे कोश के २५वें अध्याय का अन्त।

काशमीरी ब्राह्मणों का हो सकता है। जैसा पूर्वोक्त श्लोकों से ज्ञात हो गया होगा उवट के पिता का नाम वज्रट था। आनन्दाश्रम पूना में ईशावास्य उपनिषद् पर अनेक टीकाएं छपी हैं। उन में उवटभाष्य भी छपा है। उस के अन्त के लेख से प्रतीत होता है कि उवट का पिता वज्रट कोई उपाध्याय था—

इति श्रीमद्वज्रटभट्टोपाध्यायात्मजसकलनिगमविच्चूडामणि श्रीमदुवटभट्टार्यविरचिते ·····चत्वारिंशत्तमो ऽध्यायः ॥४०॥

उवट भाष्य के सब से पुराने हस्तलेख

बड़ोदा का संख्या १०४४७ का कोश संवत् १४६४ का है। पूना का संख्या २३८ का कोश संवत् १४३१ का है।

उवटभाष्य के संस्करण

उवटभाष्य कलकत्ता, बनारस और मुम्बई में मुद्रित हो चुका है। इन में से एक को भी आदर्श संस्करण नहीं कहा जा सकता। मुम्बई संस्करण में अनेक *मन्त्रों के महीधरभाष्य को ही उवटभाष्य मान कर छापा गया है।* इस के सम्बन्ध में तृतीय दशक के सन् १९१३ के चौखम्बा संस्करण के पृ. १२१२ के दूसरे टिप्पण में मन्त्र २४।३॥ पर लिखा है—

अत्र महीधरोक्तमर्थं विलिखामीति पाठ औवटभाष्ये कस्मिंश्चिदादर्शे केनचिट्टिप्पण्यां समुद्धृत इत्यनुमीयते परं तु मुम्बई-मुद्रितपुस्तके शोधकेन मूलभाष्य एव हठात् सन्निवेशित इति।

मुम्बई संस्करण का सम्पादन यत्नपूर्वक नहीं हुआ। काशीसंस्करण के सम्पादक पं० रामसकलमिश्र ने उवटभाष्य का दो प्रकार का पाठ देख कर उन्हें पृथक् २ छाप दिया है। हमारे कोश का लेखन-काल यद्यपि मिट गया है, परन्तु है वह भी बहुत पुराना। मेरे अनुमानानुसार वह कोश ४५० वर्ष से अधिक पुराना है। उस में भी पर्याप्त पाठान्तर दृष्टिगत होता है। इन सब बातों से सिद्ध है कि उवटभाष्य के सुसम्पादन की बड़ी आवश्यकता है।

प्रतीत होता है उवटभाष्य का पाठ दो प्रकार का हो गया है। एक पाठ काशी का है और दूसरा महाराष्ट्र का। काशी के पाठ में पुरुषसूक्त पर

उवट का अपना भाष्य है परन्तु महाराष्ट्र-पाठ में इस स्थान पर शौनक का भाष्य मिलता है। हम जानते हैं कि महीधर उवट की प्रायः नकल करता है। पुरुषसूक्त का महीधरभाष्य उवट के काशी-पाठ की छाया है। इस से प्रतीत होता है कि काशीवासी महीधर को महाराष्ट्र-पाठ का पता नहीं था।

भाष्य की विशेषताएं

(१) याज्ञिकपद्धति का अनुकरण करते हुए भी उवट कहीं कहीं मन्त्रों का अध्यात्म अर्थ देता है। देखो २०।२३॥

(२) उवट यास्कीय निरुक्त और निघण्टु को बहुत उद्धृत करता है, परन्तु उस के अनेक पाठ ग्रन्थ वा ग्रन्थकर्ता का नाम लिए विना ही देता है। अपनी प्रस्तावना में वह बृहद्देवता के कई वाक्य देता है।

(३) यजुर्वेद १८।७७॥ के भाष्य में वह निरुक्त १३।१२॥ को उद्धृत करता है। इस से सिद्ध होता है कि यह परिशिष्ट उस के समय में भी निरुक्त का भाग था।

(४) यजुर्वेद ७।२३॥ और २५।२७॥ में वह चरकों के मन्त्र उद्धृत करता है।

(५) यजुर्वेद ५।२॥ में उर्वशी और पुरूरवा का अपना अर्थ कर के फिर वह ब्राह्मणग्रन्थ का इतिहास-पक्ष देता है।

(६) ५।३॥ में **रेप इति पापनाम** लिखा है। यह किसी लुप्त निघण्टु का पाठ है। ५।२०॥ में वह अवतारों का वर्णन करता है।

(७) उवट याजुष सर्वानुक्रमणी को नहीं वर्तता, प्रत्युत भाष्यारम्भ में लिखता है कि—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्छन्दसं च यत्॥

अर्थात्—गुरु से, तर्क से तथा शतपथ की श्रुतियों से मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द कहूंगा।

इस से प्रतीत होता है कि याजुष-सर्वानुक्रमणी या तो अनार्ष है अथवा प्रधानता से माध्यन्दिन शाखा की नहीं है।

(८) यजुः २२।३४॥ पर भाष्य करते हुए उवट लिखता है—

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहेति प्रकारदर्शनम्। त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहेति आ[1] एकशतात्।

अर्थात्—एकस्मै स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का प्रकारदर्शन ही है। इस पर कर्क कात्यायनश्रौत २०।१।१३॥ के भाष्य में लिखता है—

इह च—एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहा—इत्येवमादौ—त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा—इत्येवमादौ लुप्तः स्वाध्यायो द्रष्टव्यः।

अर्थात्—यहां पर लुप्तस्वाध्याय देखना चाहिए।[2]

यहां पर स्मरण रखना चाहिए कि काठक संहिता ५।२।१॥ और तैत्तिरीय संहिता ७।२।११।१॥ में इन मन्त्रों का अधिक पाठ है।

उवट के अन्य ग्रन्थ

मन्त्रभाष्य के अतिरिक्त उवट ने निम्नलिखित ग्रन्थ रचे थे—

(१) ऋक् प्रातिशाख्य भाष्य।

(२) यजुः प्रातिशाख्य भाष्य।

(३) ऋक् सर्वानुक्रमणी भाष्य।

तीसरे ग्रन्थ का लेखक यही उवट है, इस बात का अभी निर्णय करना है।

उवट के मन्त्रभाष्य से शत्रुघ्न, महीधर आदि ग्रन्थकारों ने बड़ा लाभ उठाया है।

---

(४) गौरधर (संवत् १३५० के समीप)

जगद्धर भट्ट कश्मीर का एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। इस ने मालती-

१—यह पद मुम्बई-संस्करण में नहीं है। हमारे कोश में यहां का पत्र लुप्त है। क्वीन्स कालेज के हस्तलेख का यह पाठ काशी-संस्करण से लिया गया है।

२—इस बात की ओर नासिकक्षेत्रवासी श्री अण्णाशास्त्री वारे ने हमारा ध्यान दिलाया था।

माधव आदि अनेक नाटकों पर अपनी टीकाएं रची हैं । इन टीकाओं के अतिरिक्त उस ने भक्ति-भाव-पूर्ण स्तुतिकुसुमांजली नाम का भी एक ग्रन्थ निर्माण किया था । उस ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश का वर्णन करते हुए वह लिखता है—

पुरा पुरारेः पदधूलिधूसरः सरस्वतीस्वैरविहारभूरभूत् ।
विशालवंशश्रुतवृत्तिविश्रुतो विपश्चितां गौरधरः किलाग्रणीः ॥१॥
अनन्तसिद्धांतपथान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदृश्वनः ।
ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविश्रुतं श्रुतम् ॥३॥

अर्थात्—पहले श्रीशंभु के पांव की धूलि से धूसर, विद्या से स्वेच्छा से विहार करने वाला, विशाल वंश, शास्त्र और आचार से प्रसिद्ध विद्वानों में अग्रणी गौरधर था ।

वह गौरधर अनेक सिद्धान्तों के मार्गों को जानने वाला, सारे शास्त्ररूपी समुद्र का पारदर्शी था । उस के अद्भुत ज्ञान को यजुर्वेद के पद और अर्थों का वर्णन करने वाला ऋजु [भाष्य] प्रकट करता है ।

अन्तिम पंक्ति पर टीकाकार रत्नकण्ठ ने लिखा है—

तादृशस्य गौरधरस्य ऋजुर्निर्मला निर्दोषा च यजुर्वेदपदानामर्थवर्णना भाष्यपद्धतिर्वेदविलासनाम्नी यस्याद्भुतं च विश्रुतं प्रसिद्धं च श्रुतं व्यनक्ति प्रकटयति ।

अर्थात्—उस गौरधर ने यजुर्वेद पर वेदविलास नाम वाली एक निर्दोष भाष्यपद्धति रची ।

इस से ज्ञात होता है कि गौरधर ने यजुर्वेद पर ऋजुभाष्य रचा था । उस भाष्य का नाम वेदविलास भी था ।

बड़ोदा में एक ऋजुव्याख्या की विद्यमानता

बड़ोदा में वाजसनेयिसंहिताभाष्य का एक कोश है । संख्या उस की १०६०० है । यह माध्यन्दिन-संहिता का भाष्य है । इस में २६-३१ और ३८-४० अध्यायों का ही भाष्य है । उस के अन्त में लिखा है—

इति ऋजुव्याख्याने संहितायां चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥

संवत् १५६५ फाल्गुन शुद्ध १४ भौमे लिखितम् ।

बहुत सम्भव है कि गौरधर-प्रणीत ऋजुभाष्य यही हो ।

काल

गौरधर स्तुतिकुसुमांजलि के कर्ता जगद्धर का पितामह था । स्तुति-कुसुमाञ्जलि के सम्पादक हैं पं० दुर्गाप्रसाद और पं० काशीनाथ पाण्डुरङ्ग परब । अपनी भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् १३५२ के समीप जगद्धर का काल था । गौरधर उस से ५० वर्ष पहले ही हुआ होगा । अतः संवत् १३५० के समीप गौरधर का काल मानना चाहिए ।

---

(५) रावण (सोलहवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

हम पहले पृ० ६२ पर लिख आए हैं कि रावण ने यजुर्वेद पर भी भाष्य किया था । इस का प्रमाण एक रुद्रप्रयोगदर्पण में भी है । इस दर्पण का कर्ता पद्मनाभ था । उस के ग्रन्थ का शक १७०५ का एक हस्तलेख मैं ने नासिक-क्षेत्रवास्तव्य श्री अरणाशास्त्री वारे के घर देखा था । उस के आरम्भ में पद्मनाभ ने लिखा है कि रुद्रभाष्य के करने में उसने रावणभाष्य का आश्रय भी लिया है ।

---

(६) महीधर (संवत् १६४५ के समीप)

महीधर काशी में रहता था । उसी ने मन्त्रमहोदधि नामक एक तन्त्र और उस की टीका लिखी हैं । इस से प्रतीत होता है कि वह तान्त्रिक था । उस का वेददीप नामी यजुर्वेदभाष्य उवट भाष्य की छायामात्र है । भेद केवल इतना है कि उवट ने कात्यायनश्रौत की प्रतीकें अपने भाष्य में नहीं धरीं, परन्तु महीधरने सायण के काण्वसंहिता भाष्य के आश्रय से वे सब यथास्थान जोड़ दी हैं ।

काल

डा० स्वरूप का मत है कि महीधर का काल ईसा की १२वीं शताब्दी का

आरम्भ है।[1] यह बात ठीक नहीं है। महीधर सायणमाधव का स्मरण करता है और उस का प्रमाण भी अपने भाष्य में देता है। यह दोनों स्थल आगे दिए जाते हैं—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोक्यौवटमाधवीयम्।
यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय ॥१॥[2]

अर्थात्—उवट और माधव के भाष्य को देख कर मैं यजुर्वेद का अर्थ करता हूं। पुनः १३।४५॥ के भाष्य में वह लिखता है—

माधवस्तु-पृथिव्या उपरिस्थादुत वा.........

इस से आगे वह कई पंक्तियों में माधव का सारा भाष्य उद्धृत करता है।

डा० स्वरूप का मत है कि महीधर अपने भाष्य के मङ्गलश्लोक में जिस माधव का नाम लेता है, वह सम्भवतः वेङ्कटमाधव है। इस सम्बन्ध में डा० स्वरूप का लेख आगे दिया जाता है—

This view is further confirmed as Mahidhara, the commentator of the Sukla Yajurveda, who belonged to c. 1100 A. D. mentions a predecessor Madhava by name. This predecessor of Mahidhara is probably to be identified with Madhava, son of Venkata.

वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। अपने मङ्गलश्लोक में महीधर सायण-माधव का ही स्मरण करता है। और १३।४५॥ के भाष्य में उस ने काण्व-संहिता के सायणभाष्य का ही प्रमाण दिया है। माधव की जितनी पंक्तियां महीधर ने उद्धृत की हैं वे सब स्वल्पपाठान्तरों के साथ काण्वसंहिता अध्याय १४ अनुवाक ४ के सायणभाष्य में मिल जाती हैं। यदि मुद्रित काण्वीय-सायणभाष्य का सुसम्पादन होता, तो ये पाठान्तर भी बहुत ही कम रह जाते। अस्तु, इस से निश्चित होता है कि महीधर सायणमाधव को ही उद्धृत करता है।

१—निरुक्त की सूचियां, पृ० ७८।

२—भाष्य का मंगल-श्लोक।

मन्त्रमहोदधि का कर्ता महीधर।

आफरेख्ट के बृहत्सूची के अनुसार याजुषभाष्यकार महीधर ही मन्त्र-महोदधि का भी कर्ता है। यदि महीधर के यजुर्वेदभाष्य के मङ्गल-श्लोक की मन्त्रमहोदधि के मङ्गल-श्लोक से तुलना की जाए, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वेददीप का मङ्गलश्लोक पहले लिखा जा चुका है। अब मन्त्रमहोदधि का मङ्गलश्लोक लिखा जाता है—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं महागणपतिं गुरुम्।
तन्त्राण्यनेकान्यालोक्य वक्ष्ये मन्त्रमहोदधिम् ॥१॥

इस श्लोक में ठीक उन्हीं देवताओं को नमस्कार किया गया है, कि जिन्हें वेददीप के आरम्भ में नमस्कार किया गया है। इस बात के ध्यान में रखने से दोनों ग्रन्थ एक ही महीधर के प्रतीत होते हैं।

मन्त्रमहोदधि का लेखन-काल

मन्त्रमहोदधि के अन्त में महीधर ने उस ग्रन्थ के लिखने की तिथि निम्नलिखित प्रकार से दी है—

अब्दे विक्रमतो जाते बाणवेदनृपैर्मिते।
ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः ॥१३२॥

अपने इस श्लोक का अर्थ महीधर अपनी नौका टीका में स्वयं इस प्रकार करता है—

पञ्चचत्वारिंशदुत्तरषोडशशततमे विक्रमनृपाद्गते सति

अर्थात्—विक्रम संवत् १६४५ ज्येष्ठाष्टमी को मन्त्रमहोदधि पूर्ण हुआ। इस से दो चार वर्ष पहले या पीछे ही यजुर्वेदभाष्य समाप्त हुआ होगा।

कलकत्ता एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल के सूची भाग २ में नवीन संख्या ८२६ के अन्तर्गत वेददीप का एक कोश है। वह शक १६२३ में लिखा गया था, परन्तु जिस मूल से वह लिखा गया था, वह मूल शक १५२३ अथवा संवत् १६५८ का है। वेददीप के इस से पुराने हस्तलेख का संकेत हमारी दृष्टि में अभी तक नहीं आया। इस से ज्ञात होता है कि कलकत्ता के कोश का मूल

मन्त्रमहोदधि के लिखे जाने के १३ वर्ष पश्चात् लिखा गया होगा। इस के कुछ ही पश्चात् का अर्थात् संवत् १६७१ का एक कोश पूना में है।[1]

महीधर के भाष्य में किसी प्रकार की भी कोई मौलिकता नहीं है।

---

(७) दयानन्दसरस्वती (संवत् १८८१–१९४०)

स्वामी दयानन्दसरस्वती ने ऋग्वेद के समान यजुर्वेद पर भी अपना भाष्य लिखा है। उस भाष्य का आरम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में भाष्यारम्भ में निम्नलिखित श्लोक है—

चतुस्त्र्यङ्कैरङ्कैरवनिसहितैर्विक्रमसरे
शुभे पौषे मासे सितदलभविश्वोन्मिततिथौ।
गुरोर्वारे प्रातः प्रतिपदमतीष्टं सुविदुषां
प्रमाणैर्निबद्धं शतपथनिरुक्तादिभिरपि ॥२॥

अर्थात्—विक्रम के संवत् १९३४ पौष सुदि १३ गुरुवार के दिन यजुर्वेद के भाष्य बनाने का आरम्भ किया जाता है।

यह भाष्य कब समाप्त हुआ, इस विषय में भाष्य की समाप्ति पर निम्नलिखित लेख है—

मार्गशीर्ष कृष्ण १ शनौ संवत् १९३९ में समाप्त किया।
वैशाख शुक्ल ११ शनौ संवत् १९४६ में छप कर समाप्त हुआ।

दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य की जो विशेषताएं पहले दी जा चुकी हैं, वैसे ही इस यजुर्वेद भाष्य में भी समझनी चाहिएं। दयानन्दसरस्वती ने यज्ञ शब्द से धात्वर्थानुसार बड़ा विस्तृतार्थ ग्रहण किया है, अतः इस भाष्य में यज्ञ का अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त ही अर्थ ग्रहण नहीं किया गया। विद्वानों की पूजा, स्तुति, सांसारिक पदार्थों से उपयोग लेना, यह भी यज्ञ का अर्थ समझा गया है।

१—देखो, नया सूची पत्र, संख्या २४२।

काण्वसंहिता के भाष्यकार

(१) सायण (संवत् १३७२-१४४४)

महाराज बुक्क प्रथम के काल में ही सायण ने काण्वसंहिता पर भाष्य लिखा था। यह भाष्य अब बीस अध्याय तक ही मिलता है। शेष अध्याय या तो लुप्त हो गए हैं, या सायण ने लिखे ही नहीं। काण्वसंहिता भाष्यकार अनन्त का मत है कि सायण ने उत्तरार्ध पर भाष्य नहीं किया था। उसका लेख नीचे दिया जाता है—

व्याख्याता कण्वशाखीयसंहिता पूर्वविंशतिः।
माधवाचार्य वर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा ॥

अर्थात्—माधवाचार्य ने काण्वसंहिता के पहले बीस अध्यायों का ही व्याख्यान किया है, उत्तरार्ध के बीस अध्यायों का नहीं।

यदि अनन्त की बात ठीक है, तो आश्चर्य की बात है कि सायण ने उत्तरार्ध का भाष्य क्यों नहीं किया। हमारा अनुमान है कि या तो सायण का भाष्य लुप्त हो गया था, या इस भाष्य में उसके सहायक भाष्यकार का देहान्त हो गया होगा। भाष्य के लुप्त होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि शतपथ के प्रथम काण्ड के अन्तिम भागों पर भी सायण भाष्य लुप्त हो चुका है। परन्तु यह सब अनुमान मात्र ही है।

काण्वसंहिता भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार

मनु, प्रकाशात्माचार्य और उनका विवरणग्रन्थ, वेदान्त दर्शन, जैमिनि, भट्ट [कुमारिल], गुरु [भास्कर], कात्यायनोक्त सर्वानुक्रमणी, कात्यायन श्रौत, काण्व शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्ब, तैत्तिरीय और वासिष्ठरामायण आदि ग्रन्थ इस सायण भाष्य में उद्धृत हैं।

भाष्य की विशेषताएं

(१) इस भाष्य की भूमिका में सायण शुक्ल-यजु के पन्द्रह भेद बताता है। परन्तु मुद्रित पुस्तक और हमारे हस्तलेख संख्या ५६५१ के पाठ में बड़ा भेद है। हमारा पाठ मद्रास के सन् १९१६—१९१९ तक के संग्रह के अङ्क २३९६ के कोश से सर्वथा मिलता है। मुद्रित पुस्तक का इन दोनों कोशों से भेद नीचे दिखाया जाता है—

मुद्रित—काण्वाः । माध्यन्दिनाः । शापेयाः । स्तापनीयाः । कापालाः ।
लाहौर—जाबालाः । गौधेयाः । काण्वाः । माध्यन्दिनाः । श्यामाः ।
मद्रास— ,, ,, ,, ,, ,,
मुद्रित—पौण्ड्रवत्साः । आवटिकाः । परमावटिकाः । पाराशर्याः ।
लाहौर—श्यामायनीयाः । गालवाः । पिंगलाः । वत्साः ।
मद्रास— ,, ,, ,, ,,
मुद्रित—वैधेयाः । वैनेयाः । औधेयाः । गालवाः । बैजवाः ।
लाहौर—आवटिकाः । परमावटिकाः । पाराशर्याः । वैणेयाः । वैधेयाः ।
मद्रास— ,, ,, ,, ,, ,,
मुद्रित—कात्यायनीयाः ।
लाहौर—गालवाः ।
मद्रास— ,,

हमारा कोश भी काशी से प्राप्त किया गया था । मुद्रित पुस्तक में और इन कोशों के पाठ में इतना भेद पाया जाता है कि मुद्रित पुस्तक का पाठ कल्पित प्रतीत होता है ।

(२) ऋग्वेद के वर्गादि के विभागविषय में वेङ्कटमाधव और आनन्दतीर्थाभिमत जो बात हम ने पहले पृ० ४१ और ४६ पर लिखी है, वही सायण को भी मान्य है । सायण प्रथमाध्याय के दूसरे मन्त्र के भाष्य में लिखता है—

माणवकानामावर्तनसौकर्याय खण्डिकाविच्छेदस्य बुद्धिमद्भिरध्यापकैः कल्पितत्वात् । यथा बह्वृचानां तत्र तत्र सूक्तमध्येऽपि वर्गविच्छेदः कल्पितः । यथा वा तैत्तिरीयकाणां वाक्यमध्येऽपि पञ्चाशत्पदसंख्याया विच्छेदः आवृत्तिः सौकर्याय कल्प्यते । तद्वदत्राप्यवगन्तव्यम् ।

अर्थात्—अध्येता बालकों के सुख पूर्वक स्मरण करने के लिए ही खण्ड आदि विच्छेद प्राचीन अध्यापकों ने बनाए हैं । ऋग्वेद में भी वर्ग विभाग इसी लिए हैं । इसी प्रकार यद्यपि तैत्तिरीय पाठ में मन्त्र की समाप्ति नहीं होती तो

भी हर पचास पदों के पश्चात् विभाग किया गया है, इसी प्रकार काण्व-संहिता का हाल जानना चाहिए।

काण्वसंहिता में भी विना मन्त्र समाप्ति के विभाग किया गया है।

(३) सायण का मत है कि *ब्राह्मण* मन्त्र का व्याख्यान है। वह इस भाष्य के उपोद्घात में लिखता है--

शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात्

अर्थात्--शतपथ ब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यानरूप है।

इसी अभिप्राय से भाष्य के मध्य में वह प्रायः काण्व ब्राह्मण का पाठ उद्धृत करता है।

सायण के काण्वसंहिता भाष्य के सुसम्पादन की बड़ी आवश्यकता है।

---

(२) **आनन्दबोध** (सं० १५००-१६००)

आनन्दबोधभट्टोपाध्याय ने सम्पूर्ण काण्वसंहिता पर अपना भाष्य रचा है। इसके प्रथम बीस अध्यायों का एक कोश पूना में है ।[1] पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में अध्याय १६-३८ तक का एक और कोश है । हमारे पुस्तका-लय में संख्या ५६५१ के अन्तर्गत दो ग्रन्थ हैं । इन में से एक आनन्दबोध भाष्य है। यह बीसवें अध्याय से ३६वें तक है। हमारे पास इसी भाष्य के कुछ और भी पत्र हैं। उनकी संख्या २३ है। वे संख्या ४२५५ में प्रविष्ट हैं। इस भाष्य का उपनिषदात्मक चालीसवां अध्याय आनन्दाश्रम के ईशावास्योपनिषद् भाष्य में सन्निविष्ट है। उस का सम्पादन महामहोपाध्याय आगाशे उपनाम बालशास्त्री ने किया था। इस वृत्तान्त से ज्ञात हो जाता है कि इस समय भी इस भाष्य का समग्र भाग अभी तक मिल सकता है।

भाष्य का नाम

अध्यायों की परिसमाप्ति पर इस भाष्य का नाम **काण्ववेदमन्त्रभाष्य संग्रह** लिखा है। आनन्दाश्रम के संस्करण में उपनिषत् की समाप्ति पर निम्न-लिखित लेख है—

१—देखो १६१६ का सूचीपत्र, संख्या २४६ ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीवासुदेवपुरीपूज्यपादपरमकारुण्यासादितश्रीकृष्णभक्तिसाम्राज्यस्य श्रीमज्जातवेदभट्टोपाध्यायस्य सूनुना चतुर्वेदिश्रीमदानन्दभट्टोपाध्यायेन विरचिते काण्ववेदमन्त्रभाष्यसंग्रहे चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

इस से ज्ञात होता है कि आनन्दबोधभट्टोपाध्याय के पिता का नाम जातवेदभट्टोपाध्याय था। क्या महाभारत के टीकाकार विमलबोध का इस आनन्दबोध से कोई सम्बन्ध था ?

काल

आनन्दबोध के काल के सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। पूना के कोश में पृष्ठमात्राएं हैं। इस से यह प्रतीत होता है कि आनन्दबोध ३०० वर्ष से कुछ पहले ही हुआ होगा। देवयाज्ञिक ४२४ वर्ष से पूर्व का ग्रन्थकार है क्योंकि संवत् १५६४ का उस के इष्टकापूर्णभाष्य का एक हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में है। यह देवयाज्ञिक याजुष सर्वानुक्रमणी के भाष्य में किसी कण्वसंहिताभाष्य को उद्धृत करता है।[1] उस का उद्धृत पाठ निम्नलिखित है—

उर्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षोघ्नं ब्रह्मदेवतेति एवं कण्वसंहिताभाष्ये व्याख्यातमस्ति।

अर्थात्—**उर्वन्तरिक्षम्** मन्त्र का रक्षोघ्न ब्रह्मदेवता है। ऐसा कण्वसंहिताभाष्य में व्याख्यान किया गया है।

पुनः देवयाज्ञिक लिखता है—

अग्निदेवतेति माधवाचार्याः।[2]

अर्थात्—**पञ्चाराय:** इस पंचमाध्याय के मन्त्र का अग्नि देवता है।

यह दोनों पाठ सायणमाधव के काण्वसंहिताभाष्य में हमें नहीं मिले। सायण अपने भाष्य में इस प्रकार से देवता नहीं देता। इन में से यदि पहला

१—प्रथमाध्याय, पृ० १७ काशी संस्करण।

२— ,, ,, ७२ ,, ,,

पाठ आनन्दबोध के भाष्य में मिल जाय, तो आनन्दबोध के काल का कुछ सुनिश्चित पता लग जायगा।

आनन्दबोध के सम्बन्ध में हम इस से अधिक अभी तक और कुछ नहीं लिख सकते।

---
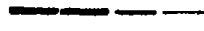
(३) अनन्ताचार्य (सं० १७०० के समीप)

अनन्ताचार्य के भाष्य के कोश तीन स्थानों में हैं। अलवर संख्या ११३ का कोश ३२–४० अध्याय तक है। पूना नवीन संख्या २४५ का कोश भी ३२-४० अध्याय तक का है। इस का लिपिकाल शक १७२१ है। तीसरा कोश मद्रास में है।[१] वह अध्याय २१-३० तक है। इस के चालीसवें अध्याय का भाष्य ईशावास्योपनिषद् के बालशास्त्री के संस्करण में आनन्दाश्रम में मुद्रित हो चुका है।

काल

अनन्त २४५ वर्ष से पुराना है। अनन्त के प्रातिशाख्यभाष्य का इतने वर्ष पुराना लख कलकत्ता में विद्यमान है।[२] अपने कण्वकण्ठाभरण में अनन्त होलीरभाष्य को उद्धृत करता है। याजुषसर्वानुक्रमणी का होलीरभाष्य बहुत पुराना ग्रन्थ नहीं है। यह सायणमाधव के पश्चात् ही होगा, अतः अनन्त ३०० या ४०० वर्ष पुराना ही है। अनन्त सायणमाधव को भी उद्धृत करता है। इस प्रकार भी पूर्वोक्त बात ही ठीक प्रतीत होती है।

कुल

मद्रास के कोश के आरम्भ में लिखा है—

वन्दे श्रीपितृचरणान् भट्टनागेशसंज्ञकान्।
यत्प्रसादादहं प्राज्ञः सञ्जातो जडधीरपि॥
वन्दे भागीरथीमम्बां········गुणशालिनीम्।

१—A Triennial Catalogue of Mss. Vol. III. part I, Sanskrit B, No. 2452.

२—एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकता, नवीन सूची-पत्र, संख्या ६००।

पूना के कोश के अन्त में लिखा है—

अंबा भागीरथी यस्य नागदेवः पिता सुधीः ।
काश्यां वासः सदास्य चित्तं यस्य रमाप्रिये ॥८॥

अर्थात्—पिता का नाम नागदेव या नागेश भट्ट था। माता भागीरथी थी, और काशी में वह रहता था। वह अपने को प्रथम शाखीय अर्थात् काण्वशाखीय लिखता है।

भाष्य

प्रतीत होता है अनन्त ने उत्तरार्ध पर ही अपना भाष्य रचा है। मद्रास के कोश से यह बात स्पष्ट होती है—

व्याख्याता कण्वशाखीयसंहिता पूर्वाविंशतिः ।
माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा ॥
अतस्तां व्याकरिष्ये ऽहमनन्ताचार्यनामकः ।

अर्थात्—माधवाचार्य ने काण्वसंहिता के पहले बीस अध्यायों का ही व्याख्यान किया है, उत्तरार्ध के बीस अध्यायों का नहीं, अतः मैं अनन्ताचार्य नाम वाला उस की व्याख्या करूंगा।

पूना कोश के अन्त में लिखा है—

कात्यायनकृतं सूत्रं ब्राह्मणं शतपथाभिधं ।
पुरातनानि भाष्याणि निरुक्ताद्यंगमेव च ॥४॥
आलोक्य सम्यग्बहुधा कृतं भाष्यमनुत्तमं ।
सन्ति भाष्याण्यनेकानि प्रणीतानि हि सूरिभिः ।

मद्रास कोश के आरम्भ में लिखा है—

अनेकग्रन्थमालोच्य दीपिका क्रियते मया ।
बहूनि सन्ति भाष्याणि प्रणीतानि हि सूरिभिः ।
न पाण्डित्याभिमानेन न च वित्तस्य लिप्सया ।
दीपिका रच्यते किन्तु लक्ष्मीकान्तस्य तुष्टये ॥

अर्थात्—कात्यायनकृत सूत्र, शतपथब्राह्मण, पुराने भाष्य और निरुक्तादि अङ्गों को भले प्रकार देख कर यह अत्यन्त उत्तम भाष्य किया गया है। इसका

नाम **भावार्थदीपिका** है। न तो अपने पाण्डित्य के अभिमान से, न ही धन के लोभ से, परन्तु लक्ष्मीकान्त अर्थात् विष्णु की प्रसन्नता के लिए किया गया है। अनन्त अपने भाष्य को कभी कभी **वेददीप** भी कहता है—

अमुना वेददीपेन मया नीराजितो हरिः।

अर्थात्—इस वेददीप से मैं ने विष्णु की पूजा की है।

काशीवासी महीधर भी अपने भाष्य को वेददीप कहता है। सम्भव है, अनन्त और महीधर समकालीन ही हों।

अनन्त के अन्य ग्रन्थ

(१) शतपथ ब्राह्मण भाष्य। इस के १३वें अर्थात् अष्टाध्यायी काण्ड पर भाष्य का एक हस्तलेख मद्रास में है।[1]

(२) कण्वकण्ठाभरण। इस के हस्तलेख भी मद्रास में हैं।[2]

(३) याजुष प्रातिशाख्यभाष्य. **पदार्थप्रकाश**। इस के चार कोश कलकत्ता में हैं।[3]

(४) भाषिकसूत्रभाष्य। इस का कोश एशिया० सो० नवीनसंख्या १४६४ है।

कालनाथ (संवत् १२५० के समीप)

कालनाथ के ग्रन्थ का नाम **यजुर्मञ्जरी** है। यह यजुर्मञ्जरी यजुर्विधानान्तर्गत लगभग २५० मन्त्रों का भाष्य है। कालनाथ अपने प्रारम्भिक श्लोकों में लिखता है—

विविच्य भाष्यं विविधांश्च कल्पान् एतस्य तोषाय मुदा व्यतानीत्।
भट्टस्वयम्भूतनयोऽत्र विद्वान् श्रीकालनाथः सहकारिभावम् ॥२५॥

अर्थात्—भाष्य को और अनेक कल्पों को देख कर इस राजा

१—A Triennial Catalogue of Mss. Vol. III. Part I. Sanskrit B. p. 3309-3312.

२—तथैव, पृ० ३३४३ और ३४२७।

३—एशिया० सो० बङ्गाल कलकत्ता नवीन सूचीपत्र, भाग २ पृ० ७४०--७४३।

(महाराजदेव) की प्रसन्नता के लिए स्वम्भूभट्ट के पुत्र कालनाथ ने इस ग्रन्थ को रचा ।

काल

कालनाथ जिस राजा महाराजदेव का राजपण्डित था, उस के सम्बंध में उस ने निम्नलिखित श्लोक लिखें हैं—

अस्ति प्रशस्तं दिशि पश्चिमायामुच्चाभिधानं नगरं गरीयः ॥३॥
उच्चैस्तनारध्वरगावगाहं तीर्थं परं पञ्चनदं पवित्रम् ॥४॥
क्षितीश्वराः क्षत्रपदावतंसाः तत्राविरासंस्तरुणप्रतापाः ।
येषामभूत् वाघरनामधेयः प्ररूढशक्तिः प्रथमो नरेन्द्रः ॥५॥

अर्थात्—पश्चिम दिशा में उच्च या (उध ?) नाम का एक प्रशस्त और बड़ा नगर है । वहां क्षत्रपदावतंस अनेक प्रतापी राजा हुए हैं । उन में वाघर नाम का एक कुल का प्रथम राजा हुआ है ।

अगले श्लोकों में उस राजा के वंश का निम्नलिखित वर्णन है—

वाघर—तोलोक—राम—हरिश्चन्द्र—सहदेव—हंसपाल—मंगल—वीरपाल—जयपाल और महाराजदेव । इसी अंतिम राजा महाराजदेव के काल में यह ग्रन्थ रचा गया था ।

पञ्चनद नाम के भारत में दो तीर्थ स्थान हैं । परन्तु कालनाथ का पञ्चनद आधुनिक रियासत बहावलपुर वाला ही प्रतीत होता है । वहीं पुर एक **उच्च** नगर भी है । सम्भवतः वहीं के राजाओं का वर्णन कालनाथ ने किया है । यह स्थान कभी राजस्थान का भाग था ।

एशियाटिक सोसाइटी बङ्गाल, कलकत्ता का एक हस्तलेख संवत् १५८१ का है । अतः कालनाथ इस से तो पहले हुआ ही होगा । उच्च में मुसलमान राजाओं का आधिपत्य संवत् १२३२ से आरम्भ हो गया था । कालनाथ ने सब आर्य राजाओं का उल्लेख किया है । अतः वह संवत् १२३२ से पहले ही हुआ होगा ।

सब से अंतिम ग्रन्थ जिस में कालनाथोद्धृत एक प्रमाण मिला है, पार्थसार्थिमिश्र की शास्त्रदीपिका है । परन्तु पार्थसारथि का काल भी अनिश्चित

ही है, अतः इस प्रमाण से पूर्वोक्त परिणाम से अधिक और कुछ बात नहीं निकाली जा सकती ।

भाष्य

यजुर्मञ्जरी उवटभाष्य की छायामात्र प्रतीत होती है । चाहे उस ने उवट से उपयोगी सामग्री ली हो, या किसी ऐसे ग्रन्थकार से, जो उवट का भी आधार था ।

यजुर्मञ्जरी का संस्करण हमारे मित्र वाचस्पति एम० ए० कर रहे हैं । उन्हीं के अनुसन्धान के आधार पर पूर्वोक्त पंक्तियां लिखी गई हैं ।
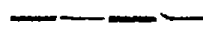
मुरारिमिश्र (संवत् १४०० के समीप)

मुरारिमिश्र ने पारस्करमन्त्रभाष्य नाम का एक ग्रन्थ रचा है । जैसा इस के नाम से स्पष्ट है, इस में पारस्करगृह्यान्तर्गत मन्त्रों का भाष्य है । यह भाष्य मुरारिमिश्र ने अपने पिता वेदमिश्रकृत गृह्यभाष्य से सामग्री पृथक् कर के बनाया है । मुरारिमिश्र भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

प्रणम्य पूर्वं पुरुषं पुराणं तथैव कात्यायनपादपद्मम् ।
तनोति पारस्करमन्त्रभाष्यं मुरारिमिश्रः पितृगृह्यभाष्यात् ॥
गृह्यप्रकाशाभिधभाष्यगर्भाच्छ्रीवेदमिश्रैर्विधिवत् प्रणीतात् ।
आकृष्य बन्धुं विदधाति मन्त्रे मुरारिमिश्रः श्रुतितो विविच्य॥

अर्थात्—परमात्मा को और कात्यायन को नमस्कार कर के पिता के गृह्यभाष्य से मुरारिमिश्र पारस्करमन्त्रभाष्य का विस्तार करता है । वेदमिश्र ने जो गृह्यप्रकाश नाम वाला भाष्य किया है, उस से लेकर और श्रुति से विवेचना कर के मुरारिमिश्र मन्त्रभाष्य को करता है ।

काल

एशियाटिक सोसायटी बङ्गाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र भाग २ में संख्या ८४४ पर इस मन्त्रभाष्य का एक कोश है । वह संवत् १४३८ का लिखा हुआ है । इसी मन्त्रभाष्य का एक और हस्तलेख जम्बू के रघुनाथ-मंदिर के पुस्तकालय में है । वह संवत् १४३० का लिखा हुआ है इस से ।

प्रतीत होता है कि संवत् १४३० के पश्चात् यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया ।

हलायुध (संवत् १२३२-१२५७)

हलायुध ने काण्वसंहिता के मन्त्रों पर भाष्य किया है। उस के ग्रन्थ का नाम **ब्राह्मणसर्वस्व** है। ब्राह्मणसर्वस्व संवत् १६३५ में बनारस में छपा था। इस ग्रन्थ के हस्तलेख पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। उन के देखने से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का अच्छा संस्करण निकलना चाहिए।

काल

हलायुध के सम्बन्ध में रायबहादुर मनमोहनचक्रवर्ती ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के जर्नल, सन् १६१५ में पृ० ३२७-३३६ तक एक लेख लिखा है। काणे महाशय ने भी अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में पृ० २३६-३०१ तक इसी सम्बन्ध में विचार किया है। इन दोनों महाशयों का मत है कि हलायुध संवत् १२३२-१२५७ तक ग्रन्थ लिखता रहा होगा। उन के इस विचार का आधार ब्राह्मणसर्वस्व के आरम्भ का निम्नलिखित श्लोक है—

बाल्ये ख्यापितराजपण्डितपदं श्वेतार्चिबिम्बोज्वल-
च्छत्रोत्सिक्तमहामहस्तनुपदं दत्त्वा नवे यौवने।
यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलक्ष्मापालनारायणः
श्रीमांल्लक्ष्मणसेनदेवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ ॥

अर्थात्—बाल्य में जिसे राजपंडित का पद मिला। यौवनारम्भ में श्वेतछत्राधिकारी जो महामह बनाया गया। राजा लक्ष्मणसेनदेव ने जो राजाओं में नारायण था, उसे उत्तर यौवन में धर्माधिकारी बनाया।

यह राजा लक्ष्मणसेनदेव संवत् १२२७ से लगभग संवत् १२५७ तक राज करता रहा, अतः हलायुध का ग्रन्थ-निर्माण-काल संवत् १२३२-१२५७ तक ही समझना चाहिए।

मनमोहनचक्रवर्ती के अनुसार शुद्धिदीपिका का लेखक श्रीनिवास संवत् १२१७ में जीता था। उस के ग्रन्थ का एक प्रमाण हलायुध देता है, अतः हलायुध उस के पश्चात् ही हुआ होगा।

हलायुधोद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार

हलायुध अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त पारस्करगृह्य-कर्कभाष्य, मुगुडाचार्यकृत वेदभाष्य, उवट, यज्ञपार्श्व, आदि ग्रन्थों को भी उद्धृत करता है।

हलायुध के ग्रन्थ

ब्राह्मणसर्वस्व के आरम्भ में हलायुध लिखता है —

मीमांसासर्वस्वं वैष्णवसर्वस्वं यत्कृतशैवसर्वस्वम्
पण्डितसर्वस्वमसौ सर्वस्वं सर्वधराणाम् ॥१६॥

अर्थात्—मैंने मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व, पंडितसर्वस्व, रचे हैं। यह सब ग्रन्थ अभी तक मिल नहीं सके।

हलायुध अपने ब्राह्मण सर्वस्व में उवटभाष्य की बहुत सहायता लेता है।

आदित्यदर्शन

आदित्यदर्शन ने कठमन्त्रपाठ पर या सम्भवतः चारायणीय मन्त्रपाठ पर अपना भाष्य लिखा था। अपने कठगृह्यसूत्रविवरण के आरम्भ में वह स्वयं लिखता है—

प्रायेण मन्त्रविवृतौ विवृतं मयेदं
गृह्यं तथापि बहुभिः शबलीकृतत्वात्।
स्पष्टं सुयुक्ति लघुवाक्यविशामभीष्ट-
मिष्टं चिकीर्षुरहमत्र पुनर्विचित्रम् ॥

अर्थात्—मन्त्रविवृति में मैंने प्रायः इस गृह्य का व्याख्यान कर दिया है, परन्तु अनेक व्याख्याकारों ने इसे दूषित कर दिया है, इस लिए इस अद्भुत, स्पष्ट और लघुवाक्य जानने वालों के अभीष्ट भाष्य को मैं पुनः करना चाहता हूं।

काल

काठकगृह्यपञ्चिका का कर्ता ब्राह्मणबल आदित्यदर्शन को उद्धृत करता है।[1] काठकगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल भी आदित्यदर्शन को उद्धृत करता

१—काठकगृह्यसूत्र, लाहौर संस्करण, पृ० २८४।

है ।[1] इस से प्रतीत होता है कि आदित्यदर्शन इन दोनों से पुराना था । परन्तु देवपाल और ब्राह्मणबल का भी अभी तक कोई निश्चित काल ज्ञात नहीं हो सका, अतः आदित्यदर्शन के काल सम्बन्ध में भी और कुछ नहीं कहा जा सकता ।

कुल

अपने कुल के सम्बन्ध में आदित्यदर्शन लिखता है—

यो वेददर्शन इति द्विजवर्गमुख्यः
सत्यार्जवाशयविशुद्धगुणैः प्रसिद्धः ।
आस्तिक्यनिर्मलमतिर्विहितानि चक्रे
चारायणीयचरणैकगुणः प्रदाता ॥
तस्यात्मजो विगतमत्सरमानसानां
मन्त्रार्थतत्त्वविदुषां जयनिन्द्रियाणि ।
श्लाघ्यः श्रुताभिजनमाधवरातशिष्य
आदित्यदर्शन इमां विवृतिं व्यधत्त ॥[2]

इस से ज्ञात होता है कि आदित्यदर्शन के पिता का नाम वेददर्शन था। वह चारायणीय शाखा का एकमात्र जानने वाला था । आदित्यदर्शन के गुरु का नाम माधवरात था ।

आदित्यदर्शन की चारायणीय मन्त्रविवृति वैदिक भाष्यों में एक अच्छा स्थान रखती होगी ।

देवपाल

देवपाल का भाष्य भी कठमन्त्रपाठ पर है । इस भाष्य का कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत देवपाल के कठगृह्यभाष्य के अन्तर्गत ही यह भाष्य भी है । देवपालभाष्य के पञ्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय के कोश के अन्त में लिखा है—

१—काठकगृह्यसूत्र, लाहौर संस्करण पृ० २८४ ।

२—काठकगृह्यसूत्र, काश्मीर संस्करण, भूमिका, पृ० २ ।

इति श्रीचारायणीमन्त्रभाष्यं भट्टहरिपालकृतं समाप्तम् ।

काश्मीर संस्करण में प्रयुक्त दो में से एक कोश के अन्त में लिखा है—

इति चारायणीयमन्त्रभाष्यं कृतिः श्रीमदाचार्यवर्यस्वामि-भट्टारकहरिपालपूज्यपादानाम् ।

इन दोनों लेखों से यह बात सम्भव प्रतीत होती है कि मन्त्रभाष्य हरिपाल का ही हो और पुत्र देवपाल ने अपने पिता का भाष्य ही अपने गृह्यभाष्य में सन्निविष्ट कर लिया हो ।

देवपालभाष्य के अनेक अध्यायों के अन्त में लिखा है—

इति जलन्धरीय जयपुरवास्तव्य भट्टोपेन्द्रसूनुहरिपालपुत्र-देवपालविरचिते समन्त्रककाठकगृह्यभाष्ये ……… ……… ।

इस से ज्ञात होता है कि देवपाल के कुल का मूल स्थान कोई जलन्धर नगर था परन्तु उस का वास जयपुर में था। उस के पिता का नाम हरिपाल और पितामह का नाम भट्ट उपेन्द्र था ।

भाष्य

देवपाल या हरिपाल का भाष्य कर्ता की महती योग्यता का परिचय देता है। इस भाष्य में निघण्टु और निरुक्त का नाम यद्यपि कम स्मरण किया गया है, तथापि उस के भाव का स्थान स्थान पर आश्रय लिया गया है । भाष्य में कहीं कहीं आध्यात्मिक अर्थ की भी झलक पड़ती है । उस के मन्त्रभाष्य में से एक मन्त्र का भाष्य लिखा जाता है—

तस्मा अरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥

यस्येति व्यत्ययेन कर्मणि षष्ठी । हे **आपः** यं रसं प्राणिषु **जिन्वथ** । जि जये । लट् । व्यत्ययेन श्नुः । ततः शप् बाहुलकात् क्वचिद्‌द्विविकरणा-दिता हुश्नुवोः सार्वधातुके [६।४।८७] इति यणादेशः । अनेकार्था धातवः । तेनायमर्थः—जयथोपचिनुथ वा । किमर्थम् । **क्षयाय** । क्षि निवासगत्योः । भूतानां निवासाय स्थितये गमनाय च नानारूपकर्मोपभोगार्थचेष्टायै ज्ञानाय च । **तस्मै अरङ्गमाम वः** । गत्यर्थकर्मणि [२।३।१२] इति कर्मणि चतुर्थी । तं युष्माकं

सम्बन्धिनं रसं तूर्णमलं पर्याप्तं वा कृत्वा गच्छेम जीवनार्थमासादयामाशास्महे इति भोगासक्तैरद्भ्य आशास्यते ।

मुमुक्ष्वभिप्रायेण त्वित्थं योजना–हे **आपः यस्य** परमात्मनः **क्षयाय** नित्यानन्दद्वारेणानुज्ञानाय **जिन्वथ** यतध्वम् । तं युष्माकमेव संबन्धिनं परं स्वभावं वयं युष्मत्प्रसादात्पूर्णं पर्याप्तं वा कृत्वा गच्छेम जानीयाम प्राप्नुयाम च, मोक्ष-प्राप्तिरस्माकमस्त्वित्याशास्महे इत्यर्थः । **आपो जनयथा च नः** यस्माद्युष्मत्-प्रसादादेवमाशास्महे तस्मादस्मान् मोक्षप्राप्तियोग्यान् जनयध्वं कुरुध्वम् । महानुभावत्वादेकैव च सर्वत्र देवता ब्रह्मरूपा आदित्यरूपा वा श्रूयते

यहां दो प्रकार का अर्थ किया गया है । एक याज्ञिक और दूसरा आध्यात्मिक । एक और मन्त्र है–

आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म ।

इस मन्त्र में **आपः** आदि चारों पद ब्रह्म के विशेषण माने गए हैं–

तत्र ब्रह्मेति विशेष्यपदम् । आप इत्यादीनि चत्वारि विशेष-णपदानि । ब्रह्म विशेष्य है । वही ब्रह्म व्यापक होने से आप, ज्ञान और प्रकाशयुक्त होने से ज्योति, सारवाला होने से रस और नित्यानन्द तथा परमा-विनाशी होने से अमृत कहा गया है । अन्यत्र भी वह **चित्रं देवानाम्, हंसः शुचिषत्,** आदि मन्त्रों का ब्रह्मपरक अर्थ करता है ।[1]

इस भाष्य में कठसंहितास्थ अनेक कठिनमन्त्रों का अर्थ मिल जाता है ।

सोमानन्दपुत्र

सोमानन्द का कोई पुत्र था । उस ने भी कठमन्त्रपाठ पर भाष्य किया है । उस के भाष्य का एक कोश जम्बू में है । उस का दूसरा मंगलश्लोक निम्नलिखित है—

विजयेश्वरवास्तव्यसोमानंदस्य सूनुना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ॥२॥

इस श्लोक का उत्तरार्ध उवट भाष्य के एक श्लोकार्ध की नकल है । कोश में केवल १२ पत्रे हैं । ग्रन्थ अपूर्ण है ।

१—काश्मीर–संस्करण पृ० ५४, ५५ ।

तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार

(१) कुण्डिन (पांचवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

काण्डानुक्रमणी नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ है। उस का सम्बन्ध तैत्तिरीय-संहिता से है। उस में लिखा है—

यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ।

अर्थात्—जिस शाखा का पदकार आत्रेय है, और जिस का वृत्तिकार कुण्डिन है।

काण्डानुक्रमणी में जिस प्रकार यह लेख आया है, उस से प्रतीत होता है कि कुण्डिन बहुत प्राचीन काल का व्यक्ति है। काल की दृष्टि से उस का पदपाठकार से थोड़ा सा ही अन्तर होगा।

पदपाठकार का काल भी नया नहीं है। प्रायः सारे ही पदपाठकार महाभारत-काल के एक दो शताब्दी पश्चात् हो चुके थे। तभी यह वृत्तिकार कुण्डिन भी हुआ होगा। फिर भी सावधानता के तौर पर हम ने इस का काल कम से कम पांचवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व का माना है।

बोधायनगृह्यसूत्र ३।६।६॥ में लिखा है—

कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय

इस से ज्ञात होता है कि वृत्तिकार का नाम कौण्डिन्य था। कुण्डिन और कौण्डिन्य में बड़ा भेद है। वृत्तिकार के इस नामभेद का कारण हम अभी नहीं कह सकते।

---

(२) भवस्वामी (आठवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

हम ने इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ० ४२ पर लिखा था—

त्रिकाण्डमण्डन १।१०१॥ में केशवस्वामी का नाम मिलता है।

त्रिकाण्डमण्डन लगभग ११वीं शताब्दी का ग्रन्थ है।[1] केशवस्वामी इस से कुछ पूर्व हुआ होगा। यह केशवस्वामी अपने बौधायनप्रयोगसार के आरम्भ में लिखता है—

नारायणादिभिः प्रयोगकारैरेकं पक्षमाश्रित्य दर्शपूर्णमासादीनां प्रयोग उक्तः। आचार्यपादैः द्वैधे पक्षान्तराण्युक्तानि। भवस्वामिमतानुसारिणा मया तु उभयमप्यङ्गीकृत्य प्रयोगसारः क्रियते।

अर्थात्—नारायणादि प्रयोगकारों ने एक पक्ष का आश्रय लेकर प्रयोग कहा है। आचार्यपाद ने द्वैध में पक्षान्तर भी कहे हैं। **भवस्वामी** मतानुसारी मैं दोनों को अङ्गीकार कर के प्रयोगसार लिखता हूं।

जिस नारायण को केशवस्वामी उद्धृत करता है, वह बौधायनसूत्र का प्रयोगकार है। वह अपने प्रयोग में एक गोपाल को उद्धृत करता है—

पश्चार्धात् पूर्वार्धादवदायेति गोपालः।[2]

सम्भवतः यही गोपाल है जो अपनी बौधायन-कारिकाओं में भवस्वामी का स्मरण इस प्रकार करता है—

इति द्वैधोदिताः पक्षा भवस्वामिमतानुगाः।

इस सारे विचार से निश्चित होता है कि भवस्वामी नवम शताब्दी से पहले का ग्रन्थकार है। भट्टभास्करादि भाष्यकार भी भवस्वामी का स्मरण करते हैं, यह हम दूसरे भाग में लिख चुके हैं। ये ग्रन्थकार जिस प्रकार से भवस्वामी का कथन करते हैं, उस से प्रतीत होता है कि भवस्वामी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थकार है। कम से कम वह आठवीं शताब्दी विक्रम से अवश्य पहले हुआ होगा।

१—पाण्डुरंग वामन काणे का भी यही मत है। वह अपने धर्मशास्त्र के इतिहास पृ० २५१ पर लिखते हैं—

Trikanda Mandana (who flourished before 1100 A.D.)

२—सूचीपत्र, रायल एशियाटिक सोसाइटी, मुम्बई शाखा भाग दो, सन् १९२८, पृ० १८३, १८४।

भवस्वामी का तैत्तिरीयसंहिताभाष्य अब भी प्राप्त हो जायगा, ऐसी मुझे दृढ़ आशा है।

---

(३) गुहदेव (आठवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

देवराजयज्वा अपने निघण्टुभाष्य की भूमिका में लिखता है कि गुहदेव का कोई वेदभाष्य था। यह भाष्य किस वेद पर था? निघण्टु १।३।१४॥ पर भाष्य करते हुए वह पुनः लिखता है—

तथा च—रश्मयश्च देवा गरगिरः-इत्यत्र गुहदेवः-
गरमुदकं गिरन्ति पिबन्तीति गरगिरः-इति भाष्यं कृतवान्।[1]

रश्मयश्च देवा गरगिरः यह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में आता है। इस से प्रतीत होता है कि गुहदेव का भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर था।

काल

आचार्य रामानुज अपने वेदार्थसंग्रह में लिखता है—

यथोदितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव भगवद्बोधायन-टङ्क-द्रमिड-गुहदेव-कपर्दि-भारुचि-प्रभृत्यविगीत-शिष्टपरिगृहीत-पुरातन-वेद-वेदान्तव्याख्यान-सुव्यक्तार्थ-श्रुतिनिकरनिदर्शितोऽयं पन्थाः।[2]

इस वाक्य में रामानुज वेद और वेदान्त के **पुरातन** व्याख्यानों का वर्णन करता है। जिन ग्रन्थकारों को रामानुज पुरातन ग्रन्थकार कहता है, वे उस से ४०० वर्ष से भी कहीं पूर्व के होंगे। रामानुज के स्मरण किए हुए उन्हीं पुरातन ग्रन्थकारों में से **गुहदेव** भी एक है। रामानुज गुहदेव के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य से अवश्य परिचित था। उस के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि गुहदेव के भाष्य का झुकाव अध्यात्मपक्ष की की ओर था।

गुहदेव का भाष्य आठवीं शताब्दी विक्रम से कहीं पहले का होगा वह भवस्वामी से पहले था, या पीछे, इस विषय में हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते। हमारा अनुमान है कि भट्टभास्करमिश्र अपने तैत्तिरीयसंहिता भाष्य

१—यह पाठ हम ने शोध कर लिखा है।

२—काशीसंस्करण, संवत् १९५२, पृ० १४८।

के आरम्भ में **भवस्वाम्यादिभाष्य** पद से भवस्वामी के साथ गुहदेव आदि भाष्यकारों का भी स्मरण कर रहा है।

मेरा विश्वास है कि यत्न करने पर गुहदेव का भाष्य अब भी मिल सकता है।

---

(४) कौशिक भट्टभास्करमिश्र (११वीं शताब्दी विक्रम)

इस इतिहास के दूसरे भाग के पृ० ४२-४७ तक भट्टभास्करमिश्र के विषय मे बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उस लेख का सार यही है कि सायण और देवराजयज्वा भट्टभास्करमिश्र के भाष्य से अनेक प्रमाण उद्धृत करते हैं। अब इस विषय में और अधिक लिखा जाता है।

काल

(१) संवत् १४२० के समीप का विश्वेश्वरभट्ट या मान्धाता अपने महार्णव में भट्टभास्कर को उद्धृत करता है—

इति तैत्तिरीयशाखानुसारेण चमकानुवाकाः ॥ छ ॥ अथ नमकैरवांतरवाक्यानां प्रयोगः। भास्करादिविनिर्दिष्टभाष्यदृष्टः।

(२) सायण भट्टभास्करमिश्र को उद्धृत करता है।

(३) देवराजयज्वा भट्टभास्करमिश्र को उद्धृत करता है।

(४) सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक अपनी न्यायपरिशुद्धि द्वितीय आन्हिक पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है। यह वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण **सुदर्शनमीमांसा** का कर्ता है। वेदाचार्य का काल संवत् १३०० से कुछ पहले का है। वह बल्लाल-नामक राजा का समकालीन था। वह सुदर्शन-मीमांसा के पृ० ४ और ८ पर क्रमशः लिखता है—

तथा भाष्यकृता भट्टभास्करमिश्रेण ज्ञानयज्ञाख्ये भाष्ये एतत्प्रमाणव्याख्यानसमये चरणमिति देवताविशेष इति तदनुगुणमेव व्याख्यातम्।

एवं यजुर्वेदभाष्येषु कदैवत्यत्वं प्रवर्ग्योत्तरशान्त्यनुवादकत्वं ज्ञानयज्ञादिषु होतुराज्ये विनियोगादग्निदैवत्यत्वम्।

इन दोनों प्रमाणों से पता लगता है कि वेदाचार्य भट्टभास्करमिश्र के ज्ञानयज्ञभाष्य से सुपरिचित था।

(५) मद्रास विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सूर्यनारायण शास्त्री का मत है कि वेदान्तसूत्र का शैव भाष्यकार श्रीकण्ठ सम्भवतः भट्टभास्कर के तैत्तिरीय आरण्यकभाष्य से परिचित था। तै० आ० ५।१४॥ के भाष्य में भट्टभास्कर लिखता है—

सैषा मुक्तानामीश्वरस्य च साक्षादर्थक्रियाहेतुः परम्परया त्वन्येषाम्।

वेदान्तसूत्र ४।४।१४॥ के भाष्य में श्रीकण्ठ लिखता है—

परशक्तिर्हि ब्रह्मणः स्वरूपतया परमाकाश उच्यते या मुक्तानां परमेश्वरस्य च साक्षादर्थक्रियाहेतुः परम्परयान्येषाम्।

इस स्थान में और अन्य स्थानों में भी इन दोनों ग्रन्थकारों के वाक्यों में इतनी समानता है कि एक दूसरे से भाव ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है। इस से प्रो० सूर्यनारायण का अनुमान है कि श्रीकण्ठ जो रामानुज का समकालीन ज्ञात होता है, भट्टभास्कर को जानता है। परन्तु उक्त प्रोफेसर भी इस विषय में निश्चित नहीं है।[1] अस्तु, इन दोनों ग्रन्थकारों की सदृशता ध्यान में रखने योग्य है।

(६) भट्टभास्करमिश्र आर्यभट्टीय[2], अमरकोश[3] और काशिका[4] को उद्धृत करता है। इस से इतना निश्चित होता है कि वह सातवीं शताब्दी ईसा से पश्चात् हुआ है।

(७) भट्टभास्कर ने एकाग्निकाण्ड मन्त्रों पर अपना भाष्य लिखा था। तै० सं० भाष्य की भूमिका में वह एकाग्निकाण्ड को तैत्तिरीयों के अन्तर्गत

१—श्रीकण्ठ का शिवाद्वैत। पृ० ७२, ७३।

२—तै० सं० भाष्य भाग ४ पृ० १८६।

३—रुद्रभाष्य पृ० ५४।

४—रुद्रभाष्य पृ० ७३।

मानता है। मेरा अनुमान है कि भट्टभास्कर के एकाग्निकाण्डभाष्य की ओर ही निम्नलिखित वाक्य में हरदत्त का संकेत है—

तत्र वैश्वदेवे सोमाय स्वाहेति द्वितीयाहुतिरिति मन्त्रव्याख्याकारेणोक्तम्। आपस्तम्बगृह्य भाष्य ३।७।२९ ॥

आपस्तम्बगृह्यभाष्कार हरदत्त का काल १२वीं शताब्दी विक्रम के समीप ही है। और यदि उस का पूर्वोक्त संकेत भट्टभास्कर मिश्र की ओर है, तो भास्कर का काल जानने के लिए यह एक और निश्चित प्रमाण हो जायगा।

हरदत्त भाष्य सहित एकाग्निकाण्ड के सम्पादक श्रीनिवासाचार्य का भी यही मत है कि एकाग्निकाण्ड का भाष्य करने में हरदत्त ने भट्टभास्कर के एकाग्निकाण्डभाष्य से बड़ी सहायता ली है। अपनी भूमिका के पृ० ३, ४ पर श्रीनिवासाचार्य ने इस विषय पर विस्तार से लिखा है।

इतना लिखने के अनन्तर हमारा अभी तक यही विचार है कि भट्टभास्कर का काल विक्रम की ११वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। डाक्टर बर्नल ने भी प्राचीन मौखिक परंपरा के अनुसार ऐसा ही स्वीकार किया है, यह हम दूसरे भाग में लिख चुके हैं।

भाष्य

(१) भट्टभास्कर के भाष्य का नाम **ज्ञानयज्ञ** भाष्य है।

(२) भट्टभास्कर **केचित्**[1] और **अन्ये**[2] लिख कर प्राचीन भाष्यकारों के मत उपस्थित करता है। प्रतीत होता है **आचार्य** शब्द लिख कर भी वह किसी बहुत प्राचीन भाष्यकार को उद्धृत करता है।[3] कहीं २ आचार्य शब्द किसी और के लिए भी प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

(३) यास्कीय निरुक्त, निघण्टु, शाखान्तरपाठ, एक गणकार, भारद्वाज, आर्यभट, सौगत आदि अनेक ग्रन्थ वा ग्रन्थकार इस भाष्य में उद्धृत हैं।

१—भाग प्रथम पृ० १०,१३,१७,५४,७०,२२५।

भाग दूसरा पृ० २२ इत्यादि।

२—भाग प्रथम पृ० १९७,२१७,२२९।

३—भाग पांचवां पृ० ३,४७,४८,५१।

गणकार कोई वैदिक पदों का ही एकत्र करने वाला प्रतीत होता है।[१] भगवान् लिख कर वह आपस्तम्ब श्रौत के प्रमाण देता है—

(४) भट्टभास्कर लुप्त निघण्टु ग्रन्थों से भी अनेक प्रमाण देता है—

विव इति धननाम।[२]

ओम्, स्वाहा, स्वधा, वषण्णम इति पञ्च ब्रह्मणो नामानि।[३]

मतिरिति स्तुतिनाम।[४]

गर्तमिति रथनाम।[५]

लेकतिर्दर्शनकर्मा।[६]

सम्भव है यह सामग्री उस ने प्राचीन भाष्यों से ली हो या उस के पास कई और वैदिक निघण्टु हों।

(५) भट्टभास्कर एक एक शब्द के अनेक अर्थ लिखता है। ये भिन्न भिन्न अर्थ वह प्राचीन भाष्यकारों से ले रहा है। एक ही मन्त्र के भी वह कई अर्थ करता है। **हंसः शुचिषत्** मन्त्र के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अध्यात्ममधिदैवमधियज्ञं चाधिकृत्य त्रेधेमं मन्त्रं व्याचक्षते। तत्र प्रकरणानुरूपो ऽर्थविशेषो ग्रहीतव्यः। अध्यात्मे तावत्—हंसः आत्मा।............। अथाधिदैवे—हंस आदित्यः।...............। अथाधियज्ञे—हंसो रथः। हन्ति पृथिवीमिति।

नमुचिः शब्द का वह निम्नलिखित अर्थ करता है—

न मुञ्चति पुरुषमिति नमुचिः अधर्मः।

भाग दूसरा पृ० १८४ पर **कक्षीवन्तं य औशिजम्** का व्याख्यान भी देखने योग्य है।

१—भाग दूसरा पृ० ६६, ३८४।

२—भाग दूसरा पृ० ६४।

३—रुद्र पृ० ५।

४—रुद्र पृ० ६२।

५—रुद्र पृ० १०१। तुलना करो यास्कीय-निरुक्त ३।१५॥

६—भाग दूसरा पृ० १५५।

वरुण जिन तीन पाशों से छुड़ाता है, उन के सम्बन्ध में लिखा है—

अत्र केचित्—उद्भूतादिभूतमध्यस्थ—शक्तितया धर्मपाशानां त्रैविध्यमाहुः। उत्तमाधममध्यमदेहप्रभवतया त्वन्ये। ऊर्ध्वाधोमध्यमगतिहेतुत्वेनापरे।

यहां भी प्राचीन भाष्यकारों का तीन प्रकार का मत दिया गया है।

चतुर्थ काण्ड का भाष्य

भट्टभास्करभाष्य का संस्करण मैसूर से ही निकला है। उस में चतुर्थ काण्ड नहीं छपा। रुद्राध्याय चतुर्थकाण्ड का एक अंश है। यह रुद्राध्याय भट्टभास्करभाष्य सहित आनन्दाश्रम में मुद्रित हो चुका है। इस रुद्रभाष्य के सम्बन्ध में श्रीराम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने मुझ से कहा था कि "यह भाष्य तैत्तिरीय संहिता भाष्यकार भट्टभास्करमिश्र का नहीं है। इस रुद्रभाष्य का आधार शिवरहस्य का द्वादशांश है। उस शिवरहस्य के स्थल के स्थल यह उद्धृत हैं। शिवरहस्य के उस अंश का नाम भी रुद्रभाष्य है। यह शिवरहस्य बहुत नवीन ग्रन्थ है और इस का स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है।"

इस विषय में इतना तो सत्य हो सकता है कि भट्टभास्कर शिवरहस्य से अपने रुद्रभाष्य में बड़ी सहायता लेता है, परन्तु शिवरहस्य बड़ा नवीन ग्रन्थ है, यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। रुद्राध्याय का भट्टभास्करभाष्य उसी भट्टभास्कर का है जिस ने तैत्तिरीयसंहिता आदि पर भाष्य किया है। इस का प्रमाण मान्धाता के महार्णव में भी है। वहां लिखा है—

द्वितीयादिनवान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादिनमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः। नमस्काराद्येकं यजुर्नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्कः। अष्टावनुवाकावष्टौ यजूंषीति काशकृत्स्नः।[1]

इन तीन पक्षों का विस्तृत विचार कर के महार्णवकार विश्वेश्वरभट्ट आगे लिखता है—

१.—यह पाठ हम ने शोध कर दिया है। हमारा कोश सं० ३३२६, पत्र ४४,४५।

अन्यान्यपि अवान्तरमहावाक्यानि वेदभाष्ये भट्टभास्करेण प्रदर्शितानि ।

महार्णव की शाकपूणि आदि के मत की पंक्तियां इस प्रस्तुत रुद्रभाष्य में ठीक वैसी ही मिलती हैं। और आगे चलकर महार्णव में लिखा ही है कि भट्टभास्कर ने ही यह वदभाष्य में कहीं हैं। भट्टभास्कर का समग्र वेदभाष्य यही तैत्तिरीयसंहिता भाष्य है। अतः जिस भास्कर ने तै० सं० भाष्य किया था, उस का यह रुद्रभाष्य है, किसी अन्य का नहीं।

इस विषय में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि रुद्राध्याय के मुद्रित भास्करभाष्य का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

अतः परमग्निकाण्डमेवाग्न्यार्षेयम् ।

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पंक्ति का लिखने वाला इस से पहले भागों पर भाष्य कर चुका है।

इस विषय में एक और भी प्रमाण है। तञ्जोर पुस्तकालय में इस रुद्र-भाष्य के कई हस्तलेख ऐसे हैं जिन के अन्त में इस भाष्य को ज्ञानयज्ञभाष्य लिखा है। तञ्जोर[१] और दूसरे पुस्तकालयों[२] में रुद्राध्याय के सिवा चतुर्थ काण्ड के अन्य भागों पर भी भट्टभास्कर का भाष्य मिलता है। यदि यत्न किया जाए, तो चतुर्थ काण्ड पर भी समग्र भाष्य मिल सकता है।

ज्ञानयज्ञभाष्य के नूतन संस्करण की आवश्यकता

अनेक वेदभाष्यों में से इस समय तक सायण के ऋग्वेदभाष्य और अथर्ववेदभाष्य ही सुसम्पादित हुए हैं। भट्टभास्करमिश्र का यह भाष्य सायण के भाष्यों की अपेक्षा अत्यधिक उपयोगी है। इस का बहुत ही अच्छा संस्करण निकलना चाहिए। इसके लिए लाहौर में भी बहुत सी कोश सामग्री है।

भट्टभास्कर शैव सिद्धान्त का मानने वाला प्रतीत होता है। वह अपने मङ्गलश्लोक में शिव को नमस्कार करता है। उस का भाष्य मध्यम-कालीन भाष्यों में बहुत उच्च स्थान रखता है।

१—तञ्जोर नवीन सूचीपत्र, सन् १९२८, भाग १ पृ० ४७१-४७३।

२—A Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss. Vol. I. second part. 1904, P. 178.

(५) क्षुर (संवत् १३५० से पहले)

सायण अपनी धातुवृत्ति भ्वादिगण धातु २५ की वृत्ति में लिखता है—

अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु[1]—इत्यत्राह भट्टभास्करः ....। क्षुरेण तु तव विलिष्टं न्यूनं पूरयन्त्विति ।

वही पुनः भ्वादिगण धातु १६५ की वृत्ति में लिखता है—

अथ एनां महिमानः सचन्ते[2]—इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः सचन्ते सेवन्त इति ।

वही पुनरपि भ्वादिगण धातु ६३५ की वृत्ति में लिखता है—

जेहतिर्गत्यर्थोऽपि—उक्तं च—अरेणुभिर्जेहमानं[3]—इत्यत्र क्षुरभट्टभास्करीययोः ।

वही फिर भ्वादिगण धातु ८५६ की वृत्ति में लिखता है—

अपप्रोथ दुन्दुभे दुच्छुनान्[4]............। क्षुरे तु अपप्रोथनं हुंकरणमिति ।

वही पुनः चुरादिगण धातु ३३६ की वृत्ति में लिखता है—

अत्र केचित्—पितेव पुत्रं दसये वचोभिः[5]—इत्यत्र क्षुरे—पितेव पुत्रं दसये निरवसाययामि स्तुतिभिः इति व्याख्यानात् ।

इन पांच स्थलों पर तैत्तिरीयसंहितास्थ पांच मन्त्रों के भट्टभास्कर और क्षुरभाष्य को सायण उद्धृत करता है। ये पांचों मन्त्र तैत्तिरीय संहिता के चौथे और पांचवे कांड में आते हैं। इस से प्रतीत होता है कि क्षुर ने समस्त तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य किया होगा। यह क्षुर कौन था, अथवा उस का भाष्य कैसा था, इस विषय में और कुछ नहीं जाना जा सका।

———

१—तै० सं० ५।२।१२॥

२—तै० सं० ४।३।११॥

३—तै० सं० ४।६।७॥

४—तै० सं० ४।६।६॥

५—तै० सं० ४।२।५॥

सायण—(संवत् १३७२-१४४४)

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का तैत्तिरीय-संहिता भाष्य उस के वैदिक भाष्यों में सब से पहले लिखा गया था। इस का लेखन-काल महाराज बुक्क प्रथम का राजत्व-काल है।

काण्वसंहिता भाष्य के समान इस में भी सूत्र का अभिप्राय साथ साथ जोड़ा गया है। पहले कल्प से सारा विनियोग स्पष्ट कर के पुनः सायण अपना भाष्य लिखता ह। इस बात को सायण स्वयं भी अपने मंगल श्लोकों में स्पष्ट करता है—

ब्राह्मणं कल्पसूत्रे द्वे मीमांसां व्याकृतिं तथा।
उदाहृत्याथ तैः सर्वैर्वेदार्थः स्पष्टमीर्यते।

अर्थात्—तै० ब्राह्मण, आपस्तम्ब और बौधायन दोनों कल्पसूत्र, मीमांसा और व्याकरण इन सब के उदाहरणों सहित वेदार्थ स्पष्ट कहा जाता है। इस भाष्य में प्राचीन भाष्यों का नाम बहुत कम लिया गया है। कहीं कहीं ही **अन्ये अपरे** आदि शब्द लिखकर सायण दूसरों का मत देता है। ५।५।१३॥ से लेकर अगली कण्डिकाओं में भट्टभास्कर और उवट के समान वह **एके** आदि कह कर दूसरों का मत बहुधा उद्धृत करता है। पुनः २।२।११॥ के भाष्य में वह लिखता है—

सूर्यरश्मय एव जलमयेन चन्द्रमण्डलेन व्यवहिताः शीतस्पर्शा अभिभूतोष्णस्पर्शा ज्योत्स्नारूपेणावभासन्त इति केषांचिन्मतम्।

इसी प्रकार २।४।३॥ में वह **संप्रदाय विदों** का मत देता है।

भट्टभास्कर के भाष्य से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि सायण अनेक स्थलों पर उस की नकल कर रहा है, यद्यपि वह उस का नाम नहीं लेता।

तैत्तिरीय संहिता ४।३।२॥ में निम्नलिखित वचन है—

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः।

इस पर भाष्य करते हुए सायण लिखता है—

तस्य भुवःशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः संबन्धी प्राणः। अतः

एवापत्यत्वमुपचर्य भौवायन इत्युच्यते।

अर्थात्--भुव शब्द वाची जो प्रजापति है उसी का पुत्रवत् प्राण है, अतः वही भौवायन कहा जाता है।

इस से प्रतीत होता है कि सायणादि आचार्य मानते थे कि जड़ पदार्थों में भी अपत्यप्रत्यय के औपचारिक प्रयोगों से अनेक शब्द बने हैं।

तै० सं० १।८।१२॥ का भाष्य करते हुए सायण **नरसिंहवर्मा** और उस के पुत्र वा पौत्र **राजेन्द्रवर्मा** का उल्लेख करता है। सम्भवतः सायण इन नामों को भट्टभास्कर या उस से प्राचीन भाष्यकारों से ले रहा है।

इस भाष्य में कोई और विशेष बात वर्णनीय नहीं है।

---

(७) वेङ्कटेश

शान्तिनिकेतन बोलपुर में वेङ्कटेश के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य का एक हस्तलेख है। वह ग्रन्थाक्षरों में है। उस की प्रतिलिपि देवनागरी अक्षरों में हमारे पुस्तकालय में है। यह अन्तिम तीन काण्डों का भाष्य है। इस में पहले चार काण्ड नहीं हैं। भाष्य के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

इति नैध्रुववेङ्कटेशविरचिते यजुर्वेदभाष्यसङ्ग्रहसारे सप्तमे काण्डे पञ्चमप्रश्ने पञ्चविंशोऽनुवाकः॥ पञ्चमकाण्डप्रभृति सप्तमकाण्डपर्यन्तं यजुर्वेदभाष्यसंग्रहं श्रीपदपूर्वनिवासेन लिखितं॥

काण्डों के मध्य में प्रपाठकों की समाप्ति पर भी कहीं कहीं ऐसा ही लेख मिलता है। कतिपय स्थानों में भाष्यकार का नाम वेङ्कटेश्वर भी लिखा है। एक स्थान में **वेदभाष्यसंग्रहसार** के स्थान में **वेदार्थसंग्रह** लिखा है।

यह भाष्य कई स्थानों में भट्टभास्कर के भाष्य से अक्षरशः मिलता है। सायण के समान कल्प और सूत्रादि इस ने नहीं दिए। केचित् आदि कह कर दूसरों के मत का अत्यल्प निदर्शन है।

यह वेङ्कटेश कौन था, अथवा कब हुआ, इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका। आगे रुद्रभाष्यकार एक वेङ्कटनाथ का वर्णन किया जाएगा। क्या ये दोनों एक ही हैं?

---

(८) बालकृष्ण

सन् १८३८ में कलकत्ता से एक सूचीपत्र प्रकाशित हुआ था। उस में फोर्ट विलियम आदि स्थानों के संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की नामावली छपी थी। उस में पृ० ५६ पर एक तैत्तिरीयसंहिताभाष्य सन्निविष्ट है। उस का कर्ता बालकृष्ण नामक कोई व्यक्ति है।

हरदत्तमिश्र

आपस्तम्बमन्त्रपाठ का दूसरा नाम एकाग्निकाण्ड भी है। उस एकाग्निकाण्ड पर हरदत्त ने भाष्य रचा है। यह बात हम इस भाग के पृ० ७१ पर लिख चुके हैं। हरदत्त शैव था। उस की टीकाओं के मङ्गलश्लोकों में शिव को नमस्कार किया गया है। एकाग्निकाण्डभाष्य का मङ्गलश्लोक निम्नलिखित है—

प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता।
एकाग्निकाण्डमन्त्राणां व्याख्या सम्यग्विधीयते॥

अर्थात्—महादेव को नमस्कार कर के बुद्धिमान् हरदत्त एकाग्निकाण्ड मन्त्रों की युक्त व्याख्या करता है।

भाष्य

हरदत्त की व्याख्या वस्तुतः ही अच्छी है। उस का अपने आप को बुद्धिमान् लिखना अनुचित नहीं है। उस की व्याख्या मैसूर में सन् १९०२ में छपी थी। उस के पृ० ८ पर वह **अपाला** का इतिहास लिखता है। पृ० ६ पर वह एक पद का किसी लुप्त शाखा का एक अप्रसिद्ध पाठ देता है। हरदत्त निघण्टु को बहुत उद्धृत करता है। बह्वृचों का पाठान्तर भी वह स्थान स्थान पर देता है। पृ० ४५ और १३५ पर वह **ऐतिहासिकों** का मत देता है। पृ० ७७ पर **अन्ये** कह कर वह किसी पुरातन भाष्यकार का मत देता है। पृ० ८५ पर **शाबरगृह्य** का पाठ मिलता है। यह सम्भवतः **शाम्बव्यगृह्य** का पाठ है।

एकाग्निकाण्डमन्त्र व्याख्या के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

इति श्रीपदवाक्यप्रमाणज्ञमहामहोपाध्यायहरदत्तमिश्रविरचितायां एकाग्निकाण्डमन्त्रव्याख्यायां द्वितीयप्रश्ने द्वाविंशः खण्डः। प्रश्नश्च समाप्तः॥

काल

हरदत्त को सायण अपनी माधवीया धातुवृत्ति में और देवराज अपने निघण्टुभाष्य में उद्धृत करते हैं। इस से निश्चित होता है कि वह १३वीं शताब्दी अथवा इस से पहले का होगा।

शत्रुघ्न

शत्रुघ्न के ग्रन्थ का नाम **मन्त्रार्थदीपिका** है। जिन ग्रन्थों के आश्रय से उस ने इस की रचना की, उन का नाम वह अगले श्लोक में लिखता है—

उवटे मन्त्रव्याख्या गुणविष्णौ ब्राह्मणीयसर्वस्वे ।
वेदविलासिन्यामपि कौशलमीक्ष्य तथापि मे सक्तिः ॥६॥

अर्थात्—उवट भाष्य में जो मन्त्रव्याख्या है, तथा गुणविष्णु के भाष्य में और ब्राह्मणसर्वस्व में, वेदविलासिनी टीका में भी कौशल देख कर मैं यह दीपिका लिखता हूं।

इस से प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न ने उवट का यजुर्वेद भाष्य, गुणविष्णु का छन्दोगमन्त्रभाष्य, हलायुध का ब्राह्मणसर्वस्व और गौरधर की वेदविलासिनी टीका देखी थीं। गौरधर के इस भाष्य का वर्णन हम पहले पृ० ६१ पर कर चुके हैं।

शत्रुघ्न अपने दशम, एकादश और द्वादश मङ्गलश्लोकों में लिखिता है कि—पूर्वग्रन्थों में जो व्याख्या है, वही मैं ने यहां लिखी है, किन्तु जो उन में कठिन स्थल थे, उन्हें यहां अति विशद कर दिया है। स्नानमन्त्र, सन्ध्यामन्त्र, देवार्चनमन्त्र, श्राद्धमन्त्र, षडङ्गशतरुद्र, विवाहादिमन्त्र यहां क्रमशः व्याख्यान किए गए हैं, इत्यादि।

शत्रुघ्न की मन्त्रार्थदीपिका काशी में मुद्रित हो चुकी है। शत्रुघ्न सन् १५२८ या संवत् १५८५ में जीवित था। उस के काल के विषय में हम इस इतिहास के दूसरे भाग के पृ० ५० पर लिख चुके हैं।

शत्रुघ्न का भाष्य उवट आदि के अनुसार है और बड़ा सरल है।

शत्रुघ्न के षडङ्गशतरुद्रीयभाष्य का वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है[1]—

It seems Satrughna was a commentator of the whole of the Yajurveda, of which this is only a part.

अर्थात्—प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न समग्र यजुर्वेद का भाष्यकार था, उसी भाष्य का यह एक भाग प्रतीत होता है।

यह बात ठीक नहीं है। रुद्रभाष्य मन्त्रार्थदीपिका का ही भाग है। यह मन्त्रार्थदीपिका समग्र यजुर्वेद का भाष्य नहीं है।

1—A Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss. Asiatic Soc. of Bengal, Vedic Mss. 1923 Vol. II p. 428.

रुद्राध्याय के भाष्यकार

रुद्राध्याय याजुष संहिताओं का एक भाग है। सामसंहिताओं में भी कुछ रुद्र सम्बन्धी मन्त्र हैं, परन्तु उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा। याजुष रुद्राध्याय के अनेक भाष्य इस समय मिलते हैं। उन में से कई तो ऐसे हैं, जो समग्र यजुर्वेद भाष्यों में से पृथक् किए गए हैं, यथा भट्टभास्कर, उवट, सायण आदि के भाष्य। उनका उल्लेख यहां नहीं होगा। यहां तो उन्हीं भाष्यों का संक्षिप्त वर्णन होगा, जो रुद्राध्याय पर ही स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं।

(१) अभिनव शङ्कर अथवा वेङ्कटनाथ

इस ग्रन्थकार का **रुद्रभाष्य** वाणीविलास प्रेस में सन् १९१३ में छपा था। उस के अन्त में लिखा है—

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापकश्रीमदभिनवशङ्करभगवाता कृतं श्रीरुद्रभाष्यं संपूर्णम् ॥

अर्थात्—यह रुद्रभाष्य अभिनव शङ्कर की कृति है।

इस रुद्रभाष्य के हस्तलेख बड़ोदा और मैसूर में भी हैं। उन के अन्त का लेख निम्नलिखित प्रकार का है—

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापकाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन विरचिते यजुर्वेदभाष्ये श्रीमद्रुद्रोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥[१]

अर्थात्—श्री अभिनव शङ्कर-शिष्य वेङ्कटनाथ का रचा हुआ यजुर्वेदभाष्य में रुद्रोपनिषद् भाष्य समाप्त हुआ।

इस लेख से संदेह होता है कि यह रुद्रभाष्य भी कभी किसी बृहद्

१—देखो बड़ोदा का सूचीपत्र, पृ० १२३।

यजुर्वेदभाष्य का भाग है। वेङ्कटेश के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। क्या यह वेङ्कटनाथ वही वेंकटश तो नहीं है ? यदि किसी हस्तलेख में रुद्रभाष्यकार वेंकटनाथ का गोत्र मिल जाता तो इस प्रश्न का शीघ्र ही उत्तर मिल सकता था, परन्तु अभी तक यह बात मिली नहीं। इतना तो प्रतीत होता है कि यह भाष्य वेंकटनाथ का है अभिनव शंकर का नहीं। मैसूर संख्या १८१७ और बड़ोदा ६४८१ में इस ग्रन्थ का कर्ता वेंकटनाथ ही कहा गया है।

काल

यह वेंकटनाथ अपने भाष्य के अन्त में लिखता है—

जातिस्मरत्वादिफलप्रभेदाश्च रुद्रकल्पार्णवादिषु प्रपञ्चिताः द्रष्टव्याः।[1]

अर्थात्—जातिस्मरत्वादि फलभेद रुद्रकल्प और महार्णवादि में कहे गए देखने चाहिएं।

यह महार्णव विश्वेश्वर के महार्णव के सिवा दूसरा नहीं है। विश्वेश्वर का काल संवत् १४२० के समीप है। अतः उसे उद्धृत करने वाला वेंकटनाथ संवत् १४५० के पश्चात् ही हुआ होगा।

भाष्य

इस भाष्य में रुद्रमन्त्रों का भाष्य करने से पहले ग्रन्थकार ने एक लम्बा उपोद्घात लिखा है। उस में भट्टभास्कर का प्रमाण भी दिया गया है।[2]

दूसरे अनुवाक के भाष्य में लिखा है—

इति प्राचीनव्याख्यानमनेन निरस्तम्—

अर्थात्—इस से प्राचीन व्याख्यान का खण्डन हो गया है। यह प्राचीन व्याख्यान कौन सा है ?

वेंकटनाथ इस भाष्य में कई स्थानों पर सामवेद की श्रुतियों को उद्धृत करता है। मुद्रित संस्करण के पृ० ७६ पर वह लिखता है—

१—यह पाठ बड़ोदा के कोश का है। मुद्रित पाठ इस से कुछ भिन्न है।

२—मुद्रित संस्करण, पृ० ३।

सामवेदे—विरूपाक्षोऽसि दन्ताञ्जिः—इति प्रस्तुत्य—त्वं देवेषु ब्राह्मणोऽसि अहं मनुष्येषु। ब्राह्मणो वै ब्राह्मणमुपधावति उप त्वा धावानि इति प्रपद्ब्राह्मणश्रुतेः।

यह प्रपद ब्राह्मण स्वल्प पाठान्तर से मन्त्रब्राह्मण २।४।६॥ का पाठ है।

मुद्रित संस्करण के उपोद्घात में बाल-सुब्रह्मण्य ने लिखा है कि यह भाष्य रुद्रार्थ को सायण से अधिक खोलता है और कई स्थानों पर इस में सायण का खण्डन भी है।

हम निश्चय से नहीं कह सकते कि वेंकटनाथ अमुक स्थान में सायण का ही खण्डन करता है।

---

(२) अहोबल

इस भाष्य के हस्तलेख तञ्जोर, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता और बड़ोदा में हैं। बड़ोदा के कोश में इस टीका का नाम **कल्पलता** लिखा है। तञ्जोर के कोश से निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

अहोबल महामहोपाध्याय नृसिंह का पुत्र था। वह भास्करवंशी था। उस ने रुद्राध्याय का अधिक विस्तृत व्याख्यान अपनी न्यायमहामणि में किया है। यह भाष्य श्लोकरूप है।

सम्भव है कि अहोबल ने एक गद्यरूपभाष्य भी लिखा था। कलकत्ता का हस्तलेख उसी का प्रतीत होता है।

---

(३) हरिदत्त मिश्र

इस भाष्य का एक हस्तलेख एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में और दूसरा केम्ब्रिज यूनिवार्सिटी के पुस्तकालय में है। यह कठ या चारायणीय संहितास्थ रुद्र का भाष्य प्रतीत होता है।

---

(४) बेणीराय=सामराज

बेणीराय काण्वशाखाध्यायी था। उस के पिता का नाम नरहरि था।

उस के ग्रन्थ का एक हस्तलेख पूना में है। वह संवत् १७२३ का लिखा हुआ है।

---

(५) मयूरेश

मयूरेश के ग्रन्थ का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है और दूसरा पूना में। पूना के सन् १९१६ के सूची के पृ० ३७८ पर इस का कर्ता कैवल्येन्द्र का शिष्य लिखा गया है। हमारे कोश पत्र ८क पर लिखा है—

युगगुणरसभूमिभूषिते शालिवाहे
विकृति शरदि चैत्र शुक्लपक्षे चतुर्थ्याम् ।
मुनिमुनिकुलजातश्रीमयूरेशनामा-
लिखदिदमतिगूढं रुद्रभाष्यं समीक्ष्य ॥

अर्थात्—शक १६३४ में मयूरेश ने यह अतिगूढ रुद्रभाष्य रचा।

---

(६) राजहंस सरस्वती

यह भाष्य शक १६६३ में लिखा गया था। इस का एक कोश बड़ोदा में है। राजहंस सरस्वती महीधरभाष्य से सहायता लेता है।

एक अज्ञात रुद्रभाष्यकार

एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र पृ० ४२६ पर रुद्रभाष्य का एक कोश सन्निविष्ट है। उस कोश में उस के कर्ता का नाम नहीं लिखा। ऐसा ही एक कोश पूना के सन् १९१६ के सूची पृ० ३७६ पर दर्ज है। नई संख्या उस की ५३० है। इसी ग्रन्थ का एक तीसरा कोश तञ्जोर के नये सूचीपत्र के पृ० ४६१ पर दर्ज है। बड़ोदा और तञ्जोर के सूचीपत्रों में भी इस के कर्ता का नाम नहीं दिया गया।

इन के अतिरिक्त **भवानीशङ्कर** के भाष्य का एक हस्तलेख बड़ोदा में है। तञ्जोर में भी एक दो और भाष्य हैं जिन के कर्ताओं का नाम अज्ञात है।

अनन्त की कात्यायन स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका

अनन्त के काण्वभाष्य का उल्लेख पृ० १००-१०२ तक हो चुका है। उसी अनन्त ने कात्यायन के स्मार्तसूत्रान्तर्गत मन्त्रों का भाष्य भी किया है। इस का एक कोश एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है।[1] वह संवत् १७२१ का लिखा हुआ है। अनन्तकृत ग्रन्थों का यही सब से पुराना कोश अभी तक मेरी दृष्टि में आया है। यह २६७ वर्ष पुराना है। इस कोश के अन्त में इस की निर्माण तिथि दी हुई है। परन्तु है वह अत्यन्त अस्त व्यस्त दशा में—

शाके [वसु] वसुषट्कप्रथमाङ्कपरामिते १६८८ ।
ग्रन्थोऽयं निर्मितः काश्यामनन्ताचार्यधीमता ॥

इस श्लोक में यदि १६८८ शक माना जाए, तो यह अर्थ हास्यजनक प्रतीत होगा। संवत् १७२१ में जिस ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गई हो, उसका मूल शक १६८८ में नहीं लिखा जा सकता। क्या १६८८ से विक्रम संवत् का ग्रहण करना चाहिए? यदि ऐसा हो तो सम्भवतः यह कुछ संगत हो सकता है। अनन्त-रचित कण्वकण्ठाभरण का एक हस्तलेख कवीन्द्राचार्य की सूची में है। उसकी संख्या ५३२ है। कवीन्द्र लगभग ३०० वर्ष पुराना है। इससे प्रतीत होता है कि अनन्त ३०० वर्ष का अथवा इस से कुछ पूर्व का है। स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका में कई शाखाओं के मन्त्र होंगे।

हररात की कूष्माण्डप्रदीपिका

इस के दो कोश पंजाब-यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में हैं। एक की संख्या है ६५ और दूसरे की ७१५। यह व्याख्या उवट के आधार पर लिखी गई है। इसका प्रथम श्लोक निम्नलिखित है—

उवटादीन् मन्त्रभाष्यान् परीक्ष्य च पुनः पुनः ।
ग्रथ्यते हररातेन[2] कूष्माण्डस्य प्रदीपिका ॥१॥

संख्या ७१५ के कोश का अन्तिम भाग त्रुटित है। संख्या ६५ का

१—नया सूचीपत्र, सन् १९२३ भाग दूसरा, पृ० ६६५-६६७।

२—सं० ६५ के कोश का पाठ यहां **पापशमनी** है।

कोश संवत् १९०६ का लिखा हुआ है। उस के पत्र १क पर कातन्त्रवृत्तिभाष्य, पत्र ७ख और १०ख पर रायमुकुटी [अमरकोशटीका] और पत्र ९ख पर तनादिवृत्ति उद्धृत हैं। रायमुकुट आदि को उद्धृत करने से इस ग्रन्थ का कर्ता संवत् १५०० के पश्चात् का है।

भवदेव

भवदेव नामक एक ग्रन्थकार ने भी षडङ्गरुद्र की व्याख्या की है। इस का एक हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में है।[1] उस का तीसरा और चौथा श्लोक नीचे लिखे जाते हैं—

भवदेवगुरोर्नत्वा पदपंकेरुहद्वयम्।
भवदेवः षडंगस्य व्याख्यां प्रकुरुतेऽधुना ॥३॥
उवटादिभिरुत्कृष्टैः पण्डितैः स्वगुरुक्रमात्।
या व्याख्या कल्पिता प्रायस्तामेव कल्पयाम्यहम् ॥४॥

अर्थात्—भवदेव गुरु के चरणकमलों को नमस्कार कर के अब भवदेव षडङ्ग की व्याख्या करता है। उवट आदि पुराने आचार्यों ने गुरुपरम्परा से जो व्याख्या लिखी है, प्रायः उसी के अनुसार यह व्याख्या है।

इसी भवदेव ने शुक्ल-यजुर्वेद पर एक भाष्य रचा था। उस का एक त्रुटित ग्रन्थ क्वीन्स कालेज काशी के पुस्तकालय में है।[2] उसके सम्बन्ध में हमारे मित्र पं० मङ्गलदेव शास्त्री अपने २१ मार्च सन् १९३० के पत्र में लिखते हैं—

"शुक्ल यजुर्वेद पर भवदेवमिश्र का भाष्य असंपूर्ण है। आरम्भ और अन्त के अनेक पत्रे नहीं हैं। ये भवदेवमिश्र मैथिल थे। कृष्णदेव के पुत्र और भवदेव ठक्कुर के शिष्य थे। आफ्रेक्ट के अनुसार सन् १६४६ के लगभग हुए थे।[3] उदाहरणार्थ ७म अध्याय के अन्त में लिखा है—

१—संख्या ४४७१।

२—सन् १९११ का सूचीपत्र पृ० १०५।

३—बृहत्सूची भाग १ पृ० ३९८।

इति मैथिलसन्मिश्रश्रीकृष्णदेवतनयमहामहोपाध्यायसट्ठक्कुर-श्रीभवदेवप्रियशिष्यमहामहोपाध्यायाभिनवाचार्यसन्मिश्रश्रीभवदेव-कृतायां संहिताव्याख्यारत्नमालायां सप्तमाध्यायव्याख्यारत्नं ।

२१वें अध्याय के आरम्भ में वह यह भी कहता है—

…………**श्रौतीं व्याख्यां कांचिदभ्यातनोमि ।** …………

एष श्रीभवदेवपंडितकविर्गंगातीरे पट्टने व्याख्यानं कुरुते……।

इस लेख से ज्ञात होता है कि भवदेव के गुरु का नाम भी भवदेव था। वह गङ्गातटवर्ती पट्टन नगर में रहता था। उस की टीका का नाम रत्नमाला है। आफ्रेख्ट उस के रचे हुए कई अन्य ग्रन्थों का भी नाम लिखता है।

षडङ्ग भाष्य भी इसी भवदेव का है। जैसा भवदेव स्वयं स्वीकार करता है, यह भाष्य उवट भाष्यानुसारी है।

———

तृतीय अध्याय

सामवेद के भाष्यकार

(१) माधव

माधवाचार्य के भाष्य का नाम **विवरण** है। सामवेद के दो भाग हैं, पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग को छन्द आर्चिक और उत्तर को उत्तर आर्चिक कहते हैं। माधव पूर्वभाग के भाष्य को छन्दसिकाविवरण और उत्तर भाग के भाष्य को उत्तरविवरण आदि कहता है।

सब से पहले इस भाष्य का परिचय सत्यव्रतसामश्रमी ने दिया था। सायण भाष्य सहित सामवेद संहिता की भूमिका में वह लिखते हैं—

सम्प्रति बहुयत्नतो माधवीयविवरणाख्यस्यैवैकमात्रस्यातिजीर्णाशुद्धपुस्तकमेकमर्द्धश उभयस्थानादासादितम्। तत्रापीह शरलेशाभ्यां टीप्पन्याकारेण मुद्रितम्।[1]

अर्थात्—माधवीय विवरण का अति जीर्ण और अशुद्ध एक पुस्तक आधा आधा दो स्थानों से बड़े यत्न से प्राप्त किया। उस के भी सर्वोत्तम भाग इस सायण भाष्य के साथ टिप्पणीरूप से छपे गए हैं।

इस के पश्चात् सन् १८८६ में वेबर ने बर्लिन के सूची भाग दो खण्ड प्रथम के पृ० १७-२० तक इस का विस्तृत वर्णन लिखा। तदनन्तर किसी विद्वान् ने अपना ध्यान इस भाष्य की ओर नहीं लगाया। यह श्रेय डा० कुह्नन्राज को ही है कि उन्होंने भिन्न भिन्न पुस्तकालयों से इस भाष्य के पूर्व और उत्तर भाग के सात कोश प्राप्त कर लिए हैं। वे इस भाष्य के सम्पादन करने का विचार रखते हैं।

१—सन् १८७४ का संस्करण, पृ० ३।

काल

(१) देवराजयज्वा अपने निघण्टुभाष्य की भूमिका में जिस माधवदेव को उद्धृत करता है, वह सामविवरणकार ही प्रतीत होता है।

(२) डा० राज ने बताया था कि माधव का मङ्गलश्लोक कादम्बरी का भी मङ्गलश्लोक है। इस बात की ओर पहले भी पृ० १६ पर संकेत किया जा चुका है। इस विषय में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। इस मङ्गल-श्लोक में **त्रयीमयाय** पद विचारणीय है। एक वेदभाष्य के आरम्भ में यह पद युक्त प्रतीत होता है, परन्तु एक काव्य के आरम्भ में यह उतना उचित नहीं है। इस से माधव बाण का समाकालीन या उस का पूर्वज हो जाता है।

(३) मंगलश्लोक के अनन्तर माधव लिखता है --

षट्त्रिंशत्प्रकारा मन्त्राः। प्रैषाः। करणाः। क्रियमाणानुवादिनः। स्तोत्रशस्त्रगताः। जपानुवचनगताश्च। एते पञ्चप्रकारा ऋग्व्याख्यायां भवन्ति। अन्ये सामव्याख्यायामुच्यन्ते—

प्रस्तावश्चोद्गीथः प्रतिहारोऽपद्रवस्तथा।
निधनं पञ्चमं चाहुर्हिङ्कारं प्रणवमेव च॥
आशास्तिः स्तुतिसंख्यानं प्रलापः परिदेवनम्।
प्रैषमन्वेषणं चैव सृष्टिराख्यानमेव च॥
सप्तधा गेयमेकेषामन्ये षड्धा विदुः।
पञ्चविधं तु सर्वेषामध्वरार्थं प्रचक्षते॥

अर्थात्—छत्तीस प्रकार के मन्त्र हैं। उन में से प्रैषादि पांच प्रकार ऋग् व्याख्या में होते हैं, और शेष प्रस्ताव आदि साम व्याख्या में कहे जाते हैं। इन में से प्रैष आदि पांच प्रकारों का वर्णन स्कन्दस्वामी ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में किया है। माधव और स्कन्द के इन प्रकारों के वर्णन में इतनी समानता है कि यह सन्देह दृढ़ हो जाता है कि इन में से कोई एक दूसरे की सामग्री ले रहा है। डा० राज का अनुमान है कि सम्भवतः माधव का पिता नारायण ऋग्वेदभाष्य में स्कन्द का सहकारी नारायण था। यदि यह बात

ठीक सिद्ध हो जाए, तो माधव का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात अभी अनुमानमात्र ही है। इस विषय में अधिक खोज की बड़ी आवश्यकता है।

भाष्य

माधव का विवरण मध्यमकाल के भाष्यों में एक उत्कृष्ट स्थान रखता है। माधव सामसम्प्रदाय का अच्छा जानने वाला प्रतीत होता है। जहां पर सामवेद के अनेक मन्त्रस्थ पदों का आर्च पाठ मान कर सायण उनका ऋग्वेदानुसारी अर्थ करता है, वहां पर माधव बहुधा साम सम्प्रदाय की ही रक्षा करता है।[1] माधव लुप्तनिघण्टु ग्रन्थों से भी प्रमाण देता है। यथा—

वि इत्याकाशनाम।[2]

ऋचीष इति कर्मनाम।[3]

विः का अन्यत्र भी वह अन्तरिक्ष अर्थ करता है।[4] **ए`** पद से वह प्राचीन भाष्यकारों का मत उपस्थित करता है।[5]

सामवेद के उत्तरार्चिक में निम्नलिखित एक मन्त्र है—

आमन्द्रमावरेण्यमाविप्रमामनीषिणम्। पान्तमापुरुस्पृहम्।[6]

इस मन्त्र के अर्थ में सायण के अनुसार क्रिया की आवृत्ति पूर्व मन्त्र से आती है। सायण उस पूर्वमन्त्रस्थ **वृणीमहे** पद से **आ** उपसर्ग को जोड़ता है। परन्तु माधव का अर्थ भिन्न प्रकार का है। वह लिखता है—

आमन्द्रम्—आनुपूर्व्येण मन्द्रं बलम्। आवरेण्यम्—आभिमुख्येन वरेण्यं तत्। आविप्रम्—अतिशयेन विपश्चितम्।

१—भाग ४, पृ० ११६।

२—भाग ५, पृ० २३८।

३—भाग ५, पृ० १६४।

४—भाग ४, पृ० ५१४, भाग ५, पृ० १६२।

५—भाग ४, पृ० २७१।

६—भाग ४, पृ० १२१, १२२।

इस व्याख्या के अनुसार माधव दो उदात्त एक पद में एकत्र करता है। उस के पास इस के लिए कोई प्रमाण हो ही गा।

माधव जिन मन्त्रों का छन्द आर्चिक में विस्तार से अर्थ करता है, उन की उत्तर आर्चिक में संक्षिप्त व्याख्या ही करता है। यथा —

तरत्स मन्दी धावतीति चतुर्ऋचः छन्दसिकाभाष्ये विस्तरेणोक्ताः सप्रयोजनं तथाप्यत्र संक्षेपेणोच्यते।[1]

कभी कभी वह पूर्व व्याख्यात मन्त्रों का व्याख्यान नहीं भी करता—

प्र व इन्द्राय—अर्चन्त्यर्कम्—उप प्रक्षे—एषस्तृचश्छन्दसिकाभाष्ये उक्तार्थः।[2]

इस भाष्य के शीघ्र सम्पादित होने की बड़ी : क.ता है।

---

(२) **भरतस्वामी** (संवत् १३६० के समीप)

भरतस्वामी का सामवेदभाष्य भी अभी तक अमुद्रित ही है। उस के भाष्य के कोश तञ्जोर, मद्रास, मैसूर, बड़ोदा और हमारे पुस्तकालय में हैं। भरतस्वामी अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

नत्वा नारायणं तातं तत्प्रसादादवाप्तधीः।
साम्नां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्यृचम्॥
होसलाधीश्वरे पृथ्वीं रामनाथे प्रशासति।
व्याख्या कृतेयं क्षेमेण श्रीरङ्गे वसता मया॥

अर्थात्—पिता नारायण को नमस्कार कर के, उस की कृपा से प्राप्तबुद्धि कश्यपगोत्री श्रीभरतस्वामी सामगत ऋचाओं की व्याख्या करता है। होसलाधीश्वर रामनाथ के राजत्व-काल में श्रीरंगपटम में निवास करते हुए मैं ने यह व्याख्या की है। होसलाधीश्वर राम का काल बर्नल के कथनानुसार सन् १२७२-१३१० है।[3]

१—भाग ४, पृ० १७।

२—भाग ४, १००।

३—बर्नलकृत तञ्जोर का सूचीपत्र, प्रथम भाग।

भाष्य के अन्त में भरतस्वामी लिखता है—

इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः ।
नारायणार्यतनयो व्याख्यत्साम्नामृचोऽखिलाः ॥

अर्थात्—नारायण और यज्ञदा के पुत्र कश्यपगोत्री श्रीभरतस्वामी ने साम की सम्पूर्ण ऋचाओं का व्याख्यान किया ।

भरतस्वामी का भाष्य बहुत संक्षिप्त है । भरतस्वामी माधव की पर्याप्त सहायता लेता है । बर्नल का विचार है कि "भरतस्वामी ने छन्द आर्चिक, अरण्यसंहिता और महानाम्नी पर ही अपना भाष्य किया है, उत्तर आर्चिक पर नहीं, क्योंकि उत्तरार्चिक के भाष्य का अभी तक कोई कोश प्राप्त नहीं हो सका।" हमारा ऐसा विचार नहीं है । भरतस्वामी ने सामविधानादि ब्राह्मणों पर भी अपने भाष्य लिखे हैं । संहिता को समाप्त किए बिना ही, उस ने ब्राह्मण भाष्य आरम्भ कर दिए हों, इस पर विश्वास नहीं होता ।

वेदभाष्य में भरतस्वामी ऐतरेय ब्राह्मण और आश्वलायन सूत्र को बहुत उद्धृत करता है ।

---

(३) सायण (संवत् १३७२-१४४४)

तै०संहिता और ऋग्वेद का व्याख्यान करके बुक्क प्रथम के काल में सायण ने सामवेद का व्याख्यान किया था । सामभाष्य के आरम्भ में सायण ने एक विस्तृत भूमिका लिखी है । उस में साम सम्बन्धी अनेक विषयों पर विचार किया गया है । भाष्य में सायण निदानादि ग्रन्थों को बहुत उद्धृत करता है ।[1] जैसा पहले पृ० १३४ पर लिखा जा चुका है, सायण इस भाष्य में कई स्थलों पर सामपाठ के स्थानों में आर्च पाठ का व्याख्यान करता है । सामवेद के सायण भाष्य के सम्पादक पं० सत्यव्रतसामश्रमी ने अपनी टिप्पणी में वे सब स्थान निर्दिष्ट कर दिए हैं । किसी किसी स्थान में सायण ऋषि देवता सम्बन्धी किसी श्लोकमयी अनुक्रमणी का पाठ भी देता है ।[2]

१—भाग २, पृ० ३६६ ।

२—भाग २, पृ० ३११ ।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण का आधार सायणभाष्य के चार कोश हैं। इस समय सायणभाष्य के कोई बीस और कोश सुप्राप्य है, अतः भावी सम्पादक को उनका ध्यान रखना चाहिए।

अरण्यसंहिता को सायण छन्दःसंहिता के अन्तर्गत मानता है। भूमिका के अनन्तर वह भाष्यारम्भ में लिखता है—

योऽयं छन्दोनामकः संहिता-ग्रन्थः सोऽयमारण्यकेनाध्यायेन षट्-संख्यापूरकेण सह षड्भिरध्यायैरुपेतः।

अर्थात्—यह छन्द आर्चिक छः अध्यायों से युक्त है। छठा अध्याय अरण्य का है।[1] सत्यव्रत ने अपनी भूमिका के अन्त में लिखा है कि यह बात विवरणकार माधव और सामसम्प्रदाय के विरुद्ध है।

---

(४) **सूर्य दैवज्ञ** (संवत् १५६० के समीप)

सूर्य दैवज्ञ का परिचय पूर्व पृ० ६३, ६४ पर दिया जा चुका है। उसी सूर्य ने एक सामभाष्य लिखा था। वह लिखता है—

अथ वामदेवस्य साम्नः प्रवृत्तिरापस्तम्बशाखायाम्—विश्वेभिर्देवैः पृतना जयामि जागतेन छन्दसा सप्तदशेन स्तोमेन वामदेव्येन साम्ना वषट्कारेण वज्रेण इति। अत्र सामगायने स्तोभस्तोमादिलक्षणमस्माभिः सामभाष्ये प्रोक्तम्।[2]

अर्थात्—तैत्तिरीय संहिता ३।५।३।२॥ के मन्त्र में भी वामदेव्य के साम की प्रवृत्ति है। इस विषय में सामगान के स्तोभादि लक्षण हम ने सामभाष्य में कहे हैं।

बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि यह सामभाष्य सामवेदभाष्य ही हो। सूर्यपण्डित के साममन्त्रभाष्य का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

कया नश्चित्र आभुवदूती सदा वृधः सखा।
कया शचिष्ठया वृता॥

१—भाग १, पृ० ६१।

२—गीताभाष्य ११।३॥

भाष्यम्—वामदेवः **वृधः सदा** सदा वर्धमानः समष्टिरूपः परमात्मा **चित्र**श्चायनीयः पूजनीयः यद्वा विचित्राकृतिमयः **सखा** मित्रभूतः परमात्मा **कया ऊती** ऊत्या संतर्पणेन कर्मणा वा **नः** अस्मान् **आभुवत** आभिमुख्येनाभवत् । अनुभवगोचरोऽभवत् ।[1]

अर्थात्—भक्तिविशेष से वह पूज्य और अद्भुत परमात्मा, जो सदा (भक्तों के हृदय में) बढ़ता है, हमारे अनुभवगोचर होता है ।

सूर्यपण्डित अपने गीता भाष्य में सामवेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ और मन्त्र उद्धृत करता है ।[2] इस से निश्चय होता है कि वह सामसम्प्रदाय का अच्छा जानने वाला था । गीता १०।३५॥ के भाष्य में वह जिस काण्वसंहिता भाष्यकार के गायत्री मंत्र का भाष्य उद्धृत करता है, वह सायण नहीं है । काण्वसंहिता के तीसरे अध्याय के तीसरे अनुवाक के २७वें मन्त्र में सायण वह अर्थ नहीं करता । वह आनन्दबोध हो सकता है ।

सूर्यपण्डित का रावणभाष्य पर बड़ा विश्वास था । अपने गीता भाष्य के अन्त में वह लिखता है—

विदित्वा वेदार्थं दशवदनवाणीपरिणतं
शतश्लोकव्याख्यां परमरमणीयामकरवम् ।
ततो गीताभाष्यं निखिलनिगमार्थैकनिलयं
विधिज्ञार्यः सूर्यो नृहरिकरुणापाङ्गशरणः ॥६॥

अर्थात्—रावणभाष्य से वेदार्थ जानकर परमरमणीय शतश्लोकव्याख्या रच कर दैवज्ञ सूर्य ने सारे शास्त्रों का अर्थ एक स्थान में रखने वाला गीता का भाष्य किया ।

सूर्यपण्डित के सामभाष्य में मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ ही रहा होगा क्योंकि गीताभाष्य में जितने साममन्त्रों का अर्थ उस ने किया है वह सारा आध्यात्मिक रीति का ही है ।

१—गीताभाष्य ११।३॥

२—गीता भाष्य ५।२८॥६।३२॥६।३३॥११।३३।११।४०॥११।४२ इत्यादि ।

(५) महास्वामी

आपर्ट के सूचीपत्र के द्वितीय भाग में संख्या ६४३५ के अन्तर्गत एक सामसंहिता भाष्य प्रविष्ट है। इस का कर्ता महास्वामी बताया गया है।

एक महास्वामी का भाषिक सूत्रभाष्य भी इस समय मिलता है। इस का सम्पादन वैबर ने किया था।[1] अनन्त ने भी भाषिकसूत्र पर अपना भाष्य किया था। यह पहले पृ० १०२ पर लिखा जा चुका है। अनन्त का भाष्य महास्वामी के भाष्य की छायामात्र है। अतः यह महास्वामी ३०० वर्ष से पहले का होगा। यदि इसी महास्वामी ने सामवेद पर अपना भाष्य लिखा था, तो वह भी इतना ही पुराना होगा। महास्वामी के सामवेदभाष्य का उल्लेख हम ने अन्यत्र नहीं देखा।

---

(६) शोभाकर भट्ट (संवत् १४६५ से पूर्व)

शोभाकर भट्ट के **आरण्यकविवरण** के कोश संस्कृत कालेज कलकत्ता, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, अलवर, बड़ोदा और पूना आदि स्थानों में विद्यमान हैं। आरण्यविवरण के आरम्भ का श्लोक निम्नलिखित है—

वेदाख्यगानव्याख्यानं सम्यगेतत्कृतं मया।
आरण्यगानव्याख्यानं तथैवाथ विभाव्यते॥

पूना और अलवर की सूची में **वेदाख्य** के स्थान में **वेयाख्य** पाठ शोधित कर के लिखा गया है। अस्तु इस से यह पता लगता है कि आरण्य की व्याख्या करने से पहले शोभाकर और भाष्य भी कर चुका था। सम्भवतः इसी शोभाकर का **नारदीय-शिक्षा-विवरण** भी इस समय मिलता है।

काल

शोभाकर संवत् १४६५ से पहले हो चुका था। पूना के नए सूचीपत्र में संवत् १७०६ का आरण्य-विवरण का जो कोश है, उस का मूल संवत् १४६५ का था। यह बात उसी कोश के अन्त में लिखी है। डा० कीलहार्न लिखते हैं—

१—इण्डीश स्टडीन।

That it (नारदीय शिक्षाविवरण) cannot be a very modern work would appear from the fact that a नारदीय शिक्षाविवरण टीका is quoted already in the भरतभाष्य (P. 16b of my mss.)

अर्थात्—नारदीय शिक्षाविवरण बहुत नया ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि एक नारदीयशिक्षा विवरण टीका भरत भाष्य में उद्धृत है।

कीलहार्न का संकेत किस भरतभाष्य की ओर है, यह मैं नहीं जान सका। भरतस्वामी के सामवेद भाष्य में ऐसी पंक्ति मेरी दृष्टि में नहीं आई।

इस अवस्था में हम अभी तक यही कह सकते हैं कि शोभाकर संवत् १४६५ से पूर्व का है।

गुणविष्णु (१२ शताब्दी विक्रम का पूर्व भाग)

गुणविष्णु के ग्रन्थ का नाम **छान्दोग्यमन्त्रभाष्य** है। इस का एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता से गत वर्ष निकला था। उस के सम्पादक हैं श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य एम० ए०। उन्हीं की भूमिका के आधार पर अगली पंक्तियां लिखी गई हैं।

छान्दोग्यमन्त्रभाष्य साम की कौथुम शाखा के मन्त्रों पर है।[1] इन मन्त्रों में अधिकांश मन्त्र साममन्त्र ब्राह्मण के ही हैं। हां कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जो उस में नहीं हैं। श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य का अनुमान है कि इन मन्त्रों का आधार कोई लुप्त साममन्त्रपाठ होगा।

१—इण्डियन एण्टीकरी, जुलाई सन् १८७७ पृ० १७५।

१—किसी अज्ञात ग्रन्थकार की रुद्राध्यायव्याख्या में लिखा है—

हलायुधेन ये काण्वे कौथुमे गुणविष्णुना।
ख्याता न मन्त्रा व्याख्यातास्तान् व्याख्यातुमिहोद्यमः॥

अर्थात्—गुणविष्णु ने कौथुम मन्त्रों की व्याख्या की है।

एशियाटिक सोसायटी बङ्गाल कलकत्ता का सूचीपत्र, वैदिक ग्रन्थ भाग २, सन् १९२३, पृ० ६६०।

गुणविष्णु बङ्गाल अथवा मिथिला के किसी भाग का रहने वाला था। उस के ग्रन्थ का वहां अब तक बड़ा प्रचार है।

इस इतिहास के दूसरे भाग के ४६वें पृष्ठ पर गुणविष्णु पर लिखते हुए हम ने लिखा था कि स्टोन्नर महाशय के विचारानुसार गुणविष्णु सायण से पहले हो चुका था। यही विचार श्रीदुर्गामोहन का है। उन्हों ने मन्त्र-ब्राह्मण के सायणभाष्य के कतिपय स्थलों की तुलना गुणविष्णु के मन्त्रब्राह्मण भाष्य के तत्सम्बन्धी स्थानों से की हैं। उस को देख कर पूर्ण निश्चय होता है कि एक ग्रन्थकार दूसरे के वाक्य के वाक्य काम में ला रहा है। श्रीदुर्गामोहन का विचार है कि हलायुध भी गुणविष्णु के ग्रन्थ को काम में लाता है, अतः सायण से पूर्व होने से गुणविष्णु सायणभाष्य को काम में नहीं लाता, प्रत्युत सायण ही गुणविष्णु से सहायता लेता है। श्रीदुर्गामोहन की यह भी धारणा है कि गुणविष्णु महाराज बल्लालसेन और लक्ष्मणसेन के काल में राजपण्डित थे। इस प्रकार वह विक्रम की बारहवीं शताब्दी के अन्त या १३ वीं के आरम्भ में हुआ होगा।

षष्ठखण्ड के अन्त में गुणविष्णु प्रत्येक वेद के आदि मन्त्र का भाष्य करता है। ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के सम्बन्ध में वह लिखता है—

विनियोगो ब्रह्मयज्ञे।

अर्थात्—इस **अग्निमीडे** मन्त्र का विनियोग ब्रह्मयज्ञ में है।

यजुर्वेद के सम्बन्ध में वह शुक्ल यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र पढ़ता है। तथा सामवेद के प्रथम मन्त्र को पढ़ के वह निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता है—

शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः॥

इस के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलाददृष्टः। वरुणदैवतः। छन्दो गायत्री। अत्र च शन्नो भवन्तु इत्यत्र आपो भवन्तु इतिपठ्यते।

अर्थात्—यह अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र है। इस का द्रष्टा पिप्पलाद है।

इस से निश्चित होता है कि **शन्नो देवी** मन्त्र पैप्पलाद संहिता का आदि मन्त्र था।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त गुणविष्णु ने मन्त्रब्राह्मण पर भी भाष्य किया था। उस के कोश लाहौर, बड़ोदा आदि स्थानों में है। गुणविष्णु ने पारस्कर-गृह्य पर भी अपना भाष्य रचा था। पं० परमेश्वर झा छान्दोग्यमन्त्र भाष्य के अपने संस्करण की भूमिका में लिखते हैं—

एतत्कृतं पारस्करगृह्यभाष्यमप्यस्ति तच्च चन्दनपुराग्रामवासिनो मृतवैदिकजयपालशर्मणः सविधेऽन्तिमभागे कतिपयपत्रविकलं मयावलोकितमासीत्। [1]

अर्थात्—मैं ने गुणविष्णुकृत पारस्करगृह्यसूत्रभाष्य का एक कोश जिस के अंतिम कुछ पत्र त्रुटित थे, चन्दनपुराग्रामवासी परलोकगत जयपाल शर्मा के घर देखा था। गुणविष्णु का भाष्य बड़ा सरल है।

१—श्रीदुर्गामोहन सम्पादित छान्दोग्यमन्त्रभाष्य की भूमिका, पृ० ३५ की टिप्पणी।

चतुर्थ अध्याय

अथर्ववेद का भाष्यकार

सायण (संवत् १३७२-१४४४)

जहां और वेदों के कई कई भाष्य इस समय भी मिलते हैं, वहां अथर्ववेद का केवल एक ही भाष्य सम्प्रति उपलब्ध होता है । है वह भी त्रुटित अवस्था में । वह भाष्य है सायण का । इस का सम्पादन परलोकगत पण्डित शङ्करपाण्डुरङ्ग ने किया है । उन्होंने इस भाष्य का एक त्रुटित ग्रन्थ प्राप्त किया । प्रथम चार काण्डों का उन के पास एक और भी कोश था, परन्तु वह पहले कोश की नकलमात्र ही था । इतनी स्वल्प सामग्री से बहुयत्न पूर्वक उक्त पण्डित ने इस भाष्य के सुलभ भागों का सम्पादन किया ।

सायण ने इस की रचना महाराज हरिहरि के काल में की थी । इस समय वह ऋग्, यजु और सामवेद का भाष्य कर चुका था । वह अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

व्याख्याय वेदत्रितयम् आमुष्मिकफलप्रदम् ।
ऐहिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याचिकीर्षति ॥१०॥

अर्थात्—परलोक में फल देने वाले तीन वेदों का व्याख्यान कर के अब इस लोक और परलोक के फलरूप चौथे वेद का व्याख्यान करता है ।

अपने भाष्य की भूमिका में सायण लिखता है कि यह वेद बीस काण्ड युक्त है—

अतः एकर्चादीनाम् ऋषीणां विंशतिसंख्याकत्वाद् वेदोऽपि विंशतिकाण्डात्मकः संपन्नः ।

इस भाष्य की भूमिका में अथर्ववेद सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों पर सायण ने प्रकाश डाला है । आथर्वण शाखाओं के विषय में वह लिखता है—

अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । तद्यथा-पैप्पलादास्तौदा मौदाः शौनकीया जाजला जलदा ब्रह्मवदा देवदर्शाश्चारणवैद्याश्चेति ।

इस के अनन्तर आथर्वण सूत्रों के सम्बन्ध में वह उपवर्ष का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करता है—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः ।
तुर्य आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः ॥ इति ॥

अर्थात्—नक्षत्रकल्प, वैतान, संहिताविधिः—कौशिकसूत्र, चौथा आङ्गिरस कल्प और पांचवां शान्तिकल्प है ।

सायण का मत है कि रोगनिवारक आथर्वण मन्त्र होमादि से उन रोगों की निवृत्ति करते हैं, जिनका कारण कोई पापाचरण है।[1] इस से आगे वह एक रुद्रभाष्यकार को उद्धृत करता है ।

सायण के आथर्वणभाष्य का प्रधानाधार कौशिक और वैतानसूत्र हैं ।

हम ने सुना है कि ग्वालियर में सायण के अथर्ववेद भाष्य का एक सम्पूर्ण कोश है । इसे प्राप्त करने का यत्न होना चाहिए ।

———

१ भाष्य पृ० ५ ।

पञ्चम अध्याय

पदपाठकार

पदपाठ वेदों के सब से प्राचीन सरल और संक्षिप्त भाष्य हैं। इन की सहायता से कई पदों की प्रकृतियां, उन के प्रत्यय, समासों का स्वरूप, और पदों का विच्छेद इत्यादि अनेक बातें अनायास ज्ञात हो जाती हैं। इन में से अधिकांश बातों को खोलने के लिए पदपाठकार अवग्रह [ऽ] का प्रयोग करते हैं। वेदार्थ में पदपाठों का बड़ा प्रमाण है। पर क्योंकि कई पदों का अनेक प्रकार का विच्छेद हो सकता है, और भिन्न २ संहिताओं के पदपाठों में वह मिल भी जाता है, अतः वेदार्थ करने वाले की दृष्टि बड़ी गम्भीर होनी चाहिए। उस के लिए सारे ही पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य है। योरुप और अमेरिका के कुछ वेदानुवादकों ने इन पदपाठों में कई दोष निकाले हैं। वे अपना आधार आधुनिक भाषा-विज्ञान को समझते हैं। यह भाषा-विज्ञान अभी बड़ा अपूर्ण है। इस के विपरीत हमारा सुदृढ निश्चय है कि पदपाठकारों को अपनी परम्परा सुविदित थी। वैदिक विज्ञान के, चाहे वह व्याकरण विज्ञान हो या भाषा-विज्ञान, कल्प-विज्ञान हो या छन्दोविज्ञान, वे असाधारण ज्ञाता थे, नहीं नहीं, वे इन विज्ञानों के पारदर्शी थे। अतः उन के पदपाठों का, उनके इन अत्यन्त संक्षिप्त भाष्यों का, अब उल्लेख किया जाएगा।

(१) ऋग्वेद का पदपाठकार शाकल्य

जिस विदग्ध शाकल्य का महाराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ महान् संवाद हुआ था[1] पुराणों के अनुसार ऋग्वेदाध्यापक देवमित्र शाकल्य वही था। ब्रह्माण्ड पुराण के पूर्व भाग के दूसरे पाद अध्याय ३४वें में लिखा है—

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः।
बाष्कलिश्च भरद्वाज इति शाखाप्रवर्तकाः ॥३२॥

१— शतपथ ११।४।६।३॥

देवमित्रस्तु शाकल्यो ज्ञानाहंकारगर्वितः।
जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद्द्विजः ॥२३॥

इस से अगले अध्याय में पुनः लिखा है—

देवमित्रश्च शाकल्यो महात्मा द्विजपुंगवः।
चकार संहिता पंच बुद्धिमान् वेदवित्तमः ॥१॥

अर्थात्—[उस सत्यश्रिय के तीन शिष्य थे।] शाकल्य उन में से पहला था, दूसरा था शाकपूणि रथीतर और तीसरा था बाष्कलि भरद्वाज। ये शाखाप्रवर्तक थे। देवमित्र शाकल्य ज्ञानाहङ्कार से गर्वित जनक के यज्ञ में विनाश को प्राप्त हुआ। द्विजश्रेष्ठ महात्मा देवमित्र शाकल्य ने, पांच संहिताएं बनाईं—

वायुपुराण ६०।६३॥ में **वेदवित्तमः** के स्थान में **पदवित्तमः** पाठ है। यह पाठ ब्रह्माण्ड के पाठ से अधिक युक्त है।

इस इतिहास के द्वितीय भाग के पृ० ७६, ७७ पर हम ने विदग्ध शाकल्य और देवमित्र शाकल्य को एक माना है। अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० २५ पर हम ने शाकल्य, स्थविर शाकल्य और विदग्ध शाकल्य तीन भिन्न २ पुरुष माने थे। अब हमारा ऐसा विचार नहीं है। इन तीनों को एक ही मानना अधिक संगत प्रतीत होता है।

इस शाकल्य का उल्लेख निरुक्त और ऋक्प्रातिशाख्य में मिलता है। हम अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० १—२५ तक इस का वर्णनविशेष कर चुके हैं।

शाकल्य कब हुआ था

कीथ प्रभृति पाश्चात्य लेखकों का मत है कि ईसा से लगभग छः सौ वर्ष या इस से कुछ पूर्व शाकल्य हुआ था।[1] उन के इस विचार का आधार उन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं। वह कल्पना भी नितान्त निर्मूल है। दूसरी ओर हम जानते हैं कि शाकल्य महाभारत-काल का व्यक्ति है। वह काल ईसा के सन् से ३००० वर्ष पूर्व के समीप का है। तभी मिथिला में वह महाराज

१—ऐतरेय आरण्यक भूमिका, पृ० ७३।

जनक राज्य करते थे, जिन की सभा में इस शाकल्य का याज्ञवल्क्य के साथ संवाद हुआ था। शाकल्य का काल वस्तुतः याज्ञवल्क्य का काल ही है।

पदपाठ

ऋग्वेद का शाकल्यकृत पदपाठ मुम्बई में छपा है। मैक्समूलर ने भी यही पदपाठ सम्पादित किया था। उस का मुद्रण काल सन् १८७३ है। मैक्समूलर सम्पादित पदपाठ प्राचीन पदपाठ की पूरी नकल नहीं है। सम्भवतः स्थान बचाने के लिए ही मै० मूलर ने प्रगृह्य पदों के साथ का पदपाठस्थ **इति** पद सर्वत्र उड़ा दिया है। शाकल्य का पदपाठ कई स्थानों पर यास्क को अनभिमत था।[1]

ऋग्वेद के अष्टमाष्टक अन्तर्गत बालखिल्य सूक्तों पर जो पदपाठ इस समय मिलता है, वह किस का है, यह अभी विचारणीय है।

---

(२) रावण

इस के पदपाठ के विषय में पूर्व पृ० ६६ पर लिखा जा चुका है।

---

(३) यजुर्वेद का पदपाठकार

माध्यन्दिन संहिता के पदपाठकार का नाम अभी तक अज्ञात ही है।

एशियाटिक सोसायटी बङ्गाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र के दूसरे भाग के पृ० ६८३ पर एक **वाजसनेयिसंहिता पदपाठ** का वर्णन है। वह माध्यन्दिनसंहिता का ही पदपाठ है। उस के अन्त में लिखा है—

इति श्रीशाकल्यकृतपदविंशतमोऽध्यायः।

इस से अनुमान हो सकता है कि माध्यन्दिनसंहिता का पदपाठकार भी शाकल्य ही था। परन्तु इस लेख का क्या आधार है और इस पर कितना विश्वास करना चाहिए, यह विषय गवेषणा योग्य है।

इस पदपाठ में एक बात विशेष विचारणीय है। यजुर्वेद में एक मन्त्र है—

......दन्तमूलैर्मृदं वर्स्वैस्तेगान्दंष्ट्राभ्याम् ...... २५।१॥

मुद्रित पदपाठ में इस के स्थान में—

१—निरुक्त ५।२१॥ **मासकृत्।** ६।२८॥ **वायः।**

वस्वैः । तेगान् ।

ऐसा पाठ छपा है । महीधर और काण्वसंहिताभाष्यकार आनन्दबोध ने **तेगां** पाठ माना है । प्रतीत होता है कि बहुत पुराने काल से लेखक-प्रमाद से पदपाठ में अशुद्धि हो चुकी थी । यही कण्डिका रूपान्तर से तै० सं० ५।७।४॥ तै० ब्रा० ३।६।११।१॥ आपस्तम्ब श्रौत २०।२१।६॥ और बौधायन श्रौत १५।३५॥ आदि में आई है । उस का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

स्तेगान्द्ःष्ट्राभ्याम्

इस से निश्चित होता है कि माध्यन्दिन पदपाठ में भी—

वस्वैः । स्तेगान् ।

ऐसा पाठ होना चाहिए ।

वा शरि [अष्टाध्यायी ८।३।३६] पर पतञ्जलि ने **वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः** जो वार्तिक दिया है, तदनुसार संहिता पाठ में **वस्वैः** के विसर्ग का लोप है ।

यह पदपाठ एक स्थान में शतपथ के अभिप्राय से नहीं मिलता । अतः ७।१०॥ के भाष्य में उवट लिखता है—

ऋतायुभ्यां । ...... ऋतशब्देनात्र मित्रोऽभिधीयते । आयुशब्देन वरुणः । अयं तावत् श्रुत्यभिप्रायः येनैवमाह—ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो ह्यतं वरुण एवायुरिति [श०४।१।४।१०॥] **पदकारस्तु—ऋतायुभ्यामित्येकं पदं कृतवान् ।**

माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ तत्त्वविवेचक मुद्रालय मुम्बई में शक १८१५ में छपा था ।

---

(४) काण्वसंहिता का पदपाठकार

इस के कर्ता के नामादि के सम्बन्ध में भी अभी तक हम कुछ नहीं जान सके । यह पदपाठ अभी तक अमुद्रित ही है ।

---

(५) मैत्रायणीसंहिता का पदपाठकार

मैत्रायणी संहिता का सम्पादन डा० श्राडर ने किया था । उन्होंने

संस्करण में उन्होंने किसी मैत्रायणी पदपाठ की सहायता भी ली थी। वह पदपाठ केवल मन्त्रपाठ का है, और पूना में सुरक्षित है। समग्र मैत्रायणी संहिता का एक पदपाठ मैंने अब प्राप्त कर लिया है। इस में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों का पदपाठ है। स्वर के चिन्हों की दृष्टि से यह ऋग्वेद से मिलता है। शक १७३४ इस का लिपिकाल है। नासिकक्षेत्र वासी श्री यज्ञेश्वर दाजी ने यह ग्रन्थ प्रतिलिपि करा लेने के लिए हमें दिया है। इस के कर्ता का नाम भी अभी तक अज्ञात ही है।

श्राडर अथवा पूना के पदपाठ का मूल मैत्रायणी संहिता का एक विशेष पाठ है, और नासिक के पदपाठ का मूल मैत्रायणी संहिता का एक दूसरा पाठ है। उन दोनों मूल पाठों में यद्यपि बहुत भेद नहीं, तथापि भेद है अवश्य। श्राडर ने मैत्रायणी संहिता का सम्पादन अपने पदपाठ के पाठों के अनुकूल किया है। दूसरे पाठ उसने टिप्पणी में दिए हैं। यथा—

अतस्त्वं बर्हिः शतवल्शं॰ विरोह सहस्रवल्शा वि वयं॰रुहमे॥१।१।२॥

इस स्थान पर श्राडर के हस्तलेखों में **शतवल्शं** और **सहस्रवल्शा** का दो प्रकार का पाठ है। एक प्रकार तो यही है और दूसरा है—**शतवल्शिं॰** तथा **सहस्रवल्शा** ।

श्राडर के पास जो पदपाठ था उसने तदनुसार **शतवल्शं** और **सहस्रवल्शा** पाठ मूल संहिता में रखा है। हमारा पदपाठ दूसरे प्रकार की संहिता का अनुकरण करता है। हमारे पदपाठ में **शतवल्शिं** और **सहस्रवल्शा** पद हैं। श्राडर स्वीकृत पाठ ऋग्वेद में मिलता है और नासिक के पदपाठ का पाठ अथवा उस मूल का पाठ जिसका यह पदपाठ है, कापिष्ठल सं॰ में पाया जाता है। हम नहीं कह सकते कि इन दोनों में एक अशुद्ध है और दूसरा शुद्ध।

इसी प्रकार का एक और पाठ भी देखने योग्य है। मुद्रित मैत्रायणी संहिता में निम्नलिखित मन्त्रांश है—

यो अस्माद्ध्वराद्य॰ वयं ध्वराम तं ध्वर। १।१।५॥

श्राडर के पूना के पदपाठ में **ध्वरात्। यं।** पाठ है। हमारे पदपाठ में इस के स्थान में **ध्वर। अयं।** पाठ है। इसका मूल में **ध्वराय॰** पाठ था। श्राडर के मूलसंहिता के कई कोशों में भी मूल का ऐसा ही पाठ है। यह उस

की सम्पादन की हुई संहिता की टिप्पणी के देखने से स्पष्ट हो जाता है।[1] इस से सन्देह उत्पन्न होता है कि मैत्रायणी संहिता के इन दो प्रकार के पाठों में से एक पाठ मैत्रायणियों की किसी अवान्तर संहिता का पाठ हो सकता है। मैत्रायणी के छः अथवा सात भेद प्रसिद्ध ही हैं। सम्भव है उन्हीं अवान्तर भेदों में से ही किसी एक शाखा का यह पदपाठ हो। इस के साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नासिक में हमने पूर्वोक्त यज्ञेश्वर दाजी के घर में मैत्रायणी संहिता का एक कोश देखा था जिस के अन्त में लिखा था—

इति मैत्रायणीमानववाराहसंहिता समाप्ता ॥

---

(६) तैत्तिरीयसंहिता का पदपाठकार आत्रेय

(१) निघण्टु १।३॥ के भाष्य में **व्योम** शब्द की व्याख्या में देवराज यज्वा आत्रेय नाम के एक पदपाठकार का उल्लेख करता है।

(२) भट्टभास्कर तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

उखश्चात्रेयाय ददौ येन पदविभागश्चक्रे—

अर्थात्—उखा ने यह संहिता आत्रेय को पढ़ाई। उस आत्रेय ने इस का पदपाठ बनाया।

(३) भट्टभास्कर के इस लेख का मूल काण्डानुक्रमणी का निम्नलिखित वचन है।

यस्याः पदकृदात्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ॥

अर्थात्—जिस का पदकार आत्रेय और वृत्तिकार कुण्डिन है।

एक आत्रेय का नाम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ५।३१॥ और १७।८॥ में, बोधायन गृह्यसूत्र ३।४।४४॥ में और वेदान्तसूत्र ३।४।४४॥ में मिलता है। बोधायनगृह्य ३।६।७॥ में लिखा है—

आत्रेयाय पदकाराय

अर्थात्—ऋषितर्पण में पदकार आत्रेय का भी स्मरण करना चाहिए।

१—इस पाठ का अर्थ ठीक नहीं बनता। यदि मूलपाठ **स्वरार्यं** माना जाए तो पदपाठ में **स्वर । यं ।** होना चाहिए। यह पाठ सार्थक हो जाता है।

इस पदपाठकार का काल भी लगभग वही है, जो शाकल्य का है। शाखा-प्रवर्तक सारे ऋषि एक ही काल में हुए थे, और उन की संहिताओं का पदपाठ भी उन्हीं के साथियों ने किया था। अतः प्रायः सारे पदपाठकार एक ही काल में हुए थे। इस सम्बन्ध में कीथ ने लिखा है—

There appears in its treatment of grammar some ground for dating it earlier than the Pada of the *Rigveda*: the latter indeed is simpler in its treatment of the analysis of words into their component elements, but it would be unwise to build any theory on that fact.[1]

अर्थात्—तै० प्रातिशाख्य में व्याकरण का जो वर्णन है, उससे इस बात को कुछ आधार मिलता है कि ऋग्वेद के पदपाठ से तै० प्रा० कुछ पूर्व का है, परन्तु इतनी ही बात से किसी सिद्धान्त का निश्चित करना बुद्धिमत्ता नहीं।

अस्तु, प्रातिशाख्यों में व्याकरण का निदर्शन चाहे कैसे ही हुआ हो, सारे पदपाठ एक ही काल के हैं। शाखा प्रवचन सम्बन्धी आर्य ऐतिह्य इस का अकाट्य प्रमाण है।

तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ का एक बड़ा सुन्दर संस्करण कुम्भघोण में छप चुका है।[2]

भट्टभास्कर तै० सं० भाष्य में कहीं कहीं ऐसा भी अर्थ करता है, जो पदपाठ के अनुकूल नहीं होता। यथा—

अस्वप्नजः । अस्वप्नशीलः । ...... । पदकारानभिमतत्वात् अन्यथा व्याख्याते—स्वप्नजन्मानो न भवन्तीत्यस्वप्नजाः । तै. सं. १।२।१४॥

अर्थात्—अस्वप्नजः का अर्थ है "जिसे स्वप्न न आवे।" परन्तु पदकार के अनुसार जः से पूर्व अवग्रह है, अतः उस के अनुसार इस का अर्थ है "जो

१—कीथ का कृष्णयजुर्वेदानुवाद भूमिका पृ० ३०।

२—तैत्तिरीयसंहितापदपाठः सस्वरः । वैद्यनाथशास्त्रिणा नारायणशास्त्रिणा च परिशोधितः कुम्भघोणे प्रकाशितश्च । सन् १९१५।

स्वप्न से उत्पन्न न हो।" इसी प्रकार अन्यत्र भी भट्टभास्कर कभी कभी पदकार के विपरीत अर्थ करता है।

---

(७) सामवेद का पदपाठकार गार्ग्य

(१) निरुक्त ४।३।४॥ में आए हुए **मेहना** पद के भाष्य में स्कन्द-स्वामी लिखता है—

एकमिति शाकल्यः। त्रीणीति गार्ग्यः।

अर्थात्—शाकल्य संहिता में यह एक पद है और गार्ग्य की संहिता में तीन पद हैं।

इस के आगे शाकल्य पक्ष में **मेहना** का **मंहनीयं** अर्थ कर के स्कन्द लिखता है—

छन्दोगानां तु मेहना शब्दो नैवास्ति यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति—इत्येवंरूपः पाठः तेषां—चित्र। मे। इह। न अस्ति। इत्येषां पदानां पञ्चानां मे। इह। न। इत्येवंरूपाणि मध्यमानि पदानि।[1]

(२) निरुक्त के इसी पाठ के सम्बन्ध में दुर्ग लिखता है—

भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ। ......। पदकारयोः पदविकल्पे कोऽभिप्राय इति।

अर्थात्—भाष्यकार यास्क ने शाकल्य और गार्ग्य दोनों का अभिप्राय कह दिया। इन दोनों पदकारों के पदविकल्प में क्या अभिप्राय है, यह कहा जाता है।

दुर्ग का स्पष्ट रूप से यहां यह अभिप्राय है कि गार्ग्य छन्दोगों का पद-पाठकार है। स्कन्द के लेख से यह बात इतनी स्पष्ट नहीं होती। इस का एक

१—हम ने यह पाठ डा० स्वरूप के पाठ की अपेक्षा यद्यपि बहुत शोधकर दिया है, तथापि यह पूरा सन्तोषजनक नहीं है मूल निरुक्त के अनुसार पांच पदों में से पहला पद यत् गिनना चाहिए। दुर्ग की भी यही सम्मति है।

कारण है । छन्दोगों की मूल संहिता [प्र. ४ अर्धप्र. २ द. ६ मं० ४] में भी वही पाठ है, जो दुर्ग के अनुसार पदपाठकार का पाठ है । अस्तु, इस बात से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सामवेद के पदपाठकार का नाम गार्ग्य था ।

पदपाठ

सामवेद का पदपाठ दूसरे पदपाठों की अपेक्षा कुछ नूतनता रखता है । यह नूतनता अनेक पदों के कुछ अधिक तोडने में है । आगे उन कतिपय शब्दों का नमूना दिया जाता है, जिन में यह बात पाई जाती है । इस के लिए हम ने सत्यव्रतसामश्रमी सम्पादित सामपदसंहिता को वर्ता है । उसी के पृष्ठ आदि का प्रमाण नीचे टिप्पणी में दिया गया है—

संहिता पाठ	पदपाठ
मिश्रम्	मि । श्रम् ।[1]
अथ	अ । थ ।[2]
विप्रासः	वि । प्रासः ।[3]
सूनृता	सु । नृता ।[4]
अन्ये	अन् । ये ।[5]
सख्ये	स । ख्ये ।[6]
अहनी	अ । हनी ।[7]
श्रद्धा	श्रत् । धा ।[8]
अघ	अ । घ ।[9]
चन्द्रमसः	चन्द्र । मसः ।[10]
समुद्रम्	सम् । उद्रम् ।[11]
दूरात्	दुः । आत् ।[12]

१—पृ० १ मं० ५ ॥
२—पृ० ५ मं० ६ ॥
३—पृ० ५ मं० ८ ॥
४—पृ० ७ मं० २ ॥
५—पृ १ ८ मं० ६ ॥
६—पृ० ६ मं० ४ ॥
७—पृ ११ मं० ३ ॥
८—पृ० १३ मं० १० ॥
९—पृ० १८ मं० २ ॥
१०—पृ० २१ मं ३ ॥
११—पृ २७ मं० ४
१२—पृ० २९ मं० ६ ॥

स्वस्तये	सु । अस्तये ।[1]
पुरन्दर	पुरम् । दर ।[2]
मेध्यातिथे	मेध्य । अतिथे ।[3]
सूर्यस्य	सु । ऊर्यस्य ।[4]
उस्रियाः	उ । स्रियाः ।[5]
पुत्रस्य	पुत् । त्रस्य ।[6]

ये पद हम ने दिग्दर्शनमात्र के लिए यहां रख दिए हैं। ऐसा पदविच्छेद दूसरे पदपाठों में देखने में नहीं आता। यास्कीय निरुक्त में पदपाठ की बड़ी छाया है। यास्क के अनेक निर्वचनों का आधार यही पदपाठ है, यह अगली तुलना से स्पष्ट हो जाएगा—

पदपाठ	निरुक्त
मि । त्रम् ।	प्रमीतेस्त्रायते । १०।२१ ॥
अ । द्य ।	अस्मिन् द्यवि । १।६ ॥
स । ख्ये ।	समानख्याना । ७।३० ॥[7]
श्रत् । धा ।	श्रद्धानात् । ६।३० ॥
अ । घ ।	हन्तेः। निर्ह्सितोपसर्गः।आहन्तीति।६।११
चन्द्र । मसः ।	चन्द्रो माता ... । ११।५ ॥
सम् । उद्रम् ।	समुद्द्रवन्त्यस्मादापः । २।१० ॥
दुः । आत् ।	दुरर्थं वा । ३।१६ ॥
सु । अस्तये ।	सु । अस्तीति । ३।२१ ॥
उ । स्रियाः ।	उस्राविणोऽस्यां भोगाः । ४।१६ ॥
पुत् । त्रस्य ।	पुन्नरकं ततस्त्रायत इति । २।११ ॥

इन निर्वचनों को करते हुए यास्क के मन में निस्सन्देह इस पदपाठ का

१—पृ० ३६ मं० ४ ॥
२—पृ० ३७ मं० ६ ॥
३—पृ० ४० मं० ७ ॥
४—पृ० ८० मं० ६ ॥
५—पृ० ८५ मं० १० ॥
६—पृ० १८८ मं० २ ॥

७—डाक्टर स्वरूप-सम्पादित निरुक्त में **समानाख्याना** पाठ है।

ध्यान था। अतः इन निर्वचनों का काल यास्क से बहुत पहले का हो जाता है। यदि सामवेद की दूसरी शाखाओं के पदपाठ भी मिल जाएं तो निरुक्त के अध्ययन में बड़ी सहायता होगी। आशा है उन पदपाठों में भी इस पदपाठ के समान पदविच्छेद की ऐसी ही नूतनता पाई जाएगी।

---

(७) आथर्वण पदपाठ

अथर्ववेद का पदपाठ ऋग्वेद के पदपाठ के प्रायः समान ही है। हस्त-लेखों में अवग्रह के स्थान में ऐसा ऽ चिन्ह नहीं होता प्रत्युत एक ऐसा ० बिन्दु दिया होता है। इस के कर्ता का नाम भी अभी तक अज्ञात ही है। इस में कोई विशेष वर्णनीय बात नहीं है।

पदपाठों का संक्षेप से तुलनात्मक अध्ययन

(१) पद की आवृत्ति

ऋग्वेद और अथर्ववेद के पदपाठों में पद में अवग्रह दिखाने के लिए शब्द की आवृत्ति नहीं की जाती है। यथा—

पुरःऽहितम्। ऋ. १. १. १.

त्रिऽसप्ताः। अथ. १. १. १.

यजुः, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और साम के पदपाठों में अवग्रह दिखाने के लिये शब्द की आवृत्ति की जाती है। यथा—

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। यजुः १. १.

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। तै. १. १. १.

मै० १. १. १.

हव्यदातये। हव्यदातये। सा० पू० १. १. १. (स्वर-चिह्न: ३ १ २ / ३ २ ३)

(२) इव का प्रयोग

इव शब्द ऋक्, यजुः, अथर्व और मैत्रायणी के पदपाठकारों ने समस्त माना है। यथा—

पिताऽइव। ऋ. १. १. ६.

राजेवेति राजाऽइव। यजुः १३. ६.

पिताऽइव। अथर्व २. १३. १.

वस्नेवेति वस्नाऽइव। मैत्रा. १. १०. २.

साम और तैत्तिरीय के पदपाठ में इव पृथक् पद रखा है। यथा—

श्रोणीः। इव॥ सा० पू० ४. ४. ४.

राजा। इव॥ तै० १. २. १४. २८.

लौकिकसाहित्य में भी इव कहीं समस्त और कहीं असमस्त होता है। यथा—

समस्त-वागर्थाविव संपृक्तौ। रघुवंश सर्ग १ श्लोक १।

असमस्त-कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।

किरा० सर्ग १ श्लोक ३६।

किरात के इस श्लोक में इव का सम्बन्ध गजौ पद से है।

(३) पदपाठों म स्वराङ्कनप्रकार

ऋक् यजु अथर्व के पदपाठ में अवग्रह के अन्त में विद्यमान स्वरित से परे अगले अंश में विद्यमान अनुदात्त को प्रचय तथा उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित होता है। यथा—

वीरवत्ऽतमम्। ऋ. १. १. ३.

घृतऽप्रतीका। ऋ. १०. ११४. ३.

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। यजु० १. १.

प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः। यजु० १. १.

अग्निऽस्वात्ताः। अथर्व० १८. ३. ४४.

अग्निऽतेजाः। अथर्व० १०. ५. २५.

तै० में ऐसा नहीं होता है—

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। तै० १. १. १.

प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः। तै० १. १. १.

इस विषय में मैत्रायणी का एक पदपाठ तैत्तिरीय का अनुकरण करता है और दूसरा ऋग्वेदादि के समान है। यथा—

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय

अथवा

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठऽतमाय। मै. १. १. १.

अघशंस इत्यघऽशंसः।

अथवा

अघशंस इत्यघऽशंसः। मै. १. १. १.

इन चारों उदाहरणों में से प्रथम और तीसरा तैत्तिरीयों के अनुसार हैं और शेष दोनों ऋग्वेद के अनुसार हैं।

काण्वसंहिता के एक पदपाठ में स्वराङ्कनप्रकार निम्नलिखित है—

प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः

अर्थात्—वह उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनों के चिन्ह लगाता है।

(४) इतिकरण

१—ऋक् और अथर्व के पदपाठों में प्रगृह्य पदों में इति का प्रयोग है यथा—

वायो इति। ऋ. १. २. १.

अथ० ६. ६८. १.

तथा "अकः" इत्यादि पदों में कहीं इति का प्रयोग है। यथा—

अकरित्यकः। ऋ० १. ३३. १५.

अथ० २०. ३४. ४.

२—यजुः में प्रगृह्य और अवग्रह योग्य पदों में इतिकरण है। यथा—

विष्णो इति। यजु० १. २.

श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ ऽतमाय। यजु० १.१

तथा "अकः" इत्यादि पदों में भी ऋग्वेदवत् इतिकरण है। यथा—

अकरित्यकः। यजुः ११. २२.

मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय में प्रगृह्य इङ्ग्य तथा उपसर्गों में इति देखा जाता है। यथा—

प्रगृह्य— विष्णो इति। मै० १. १. ३.

तै० १. १. ३. ५.

इङ्ग्य— श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ ऽतमाय । मै० १. १. १.

तै० १. १. १.

उपसर्ग—प्रेति । मै० १. १. १.

तै० १. १. १.

पर मैत्रायणी का एक पदपाठ उपसर्ग में इति का प्रयोग नहीं करता ।

तै० में भी जहां दो उपसर्ग साथ में हैं वहां केवल एक के साथ इतिकरण है । यथा—

"सं प्रयच्छति" सम् । प्रेति । यच्छति ।

तै० ६. ३. २.

साम में भी प्रगृह्य में इति करण है । यथा—

त्वे इति । सा० पू० १. ४. ४.

विभिन्न पदसंहिताओं में एक ही शब्द के भिन्न २ पदपाठ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

यह मन्त्रार्ध ऋ० १।८९।८॥ यजुः २५।२१॥ मै० सं० ४।१४।२॥ का० सं० ३५।१॥ और तै० आ० १।१।१॥ आदि स्थानों में मिलता है । तैत्तिरीय आरण्यक को छोड़ कर शेष सब ग्रन्थों में यजत्राः पद अनुदात्त (निघात) है इस प्रकार यह देवाः का विशेषण बनता है, जो स्वयं निघात है । तै० आ० और मै० सं० के (Bb) पाठान्तर में इसे आद्युदात्त माना गया है ।

यह बात भट्टभास्कर ने तै० आ० १।१।१॥ के भाष्य में लिखी है ।

एष्टा रायः

यह मन्त्रांश यजुः ५।७॥ शतपथ ३।४।३।२१॥ ऐ० ब्रा० १।२६॥ और तै० सं० १।२।११॥ में मिलता है । इस के सम्बन्ध में भाष्यकारों का निम्नलिखित लेख है—

उवट—एष्टा रायः । यजतेः कृतसंप्रसारणस्यैतद्रूपं निष्ठाप्रत्यये परतो दानार्थस्य । आ इष्टा रायः मर्यादया इष्टानि धनानि ।

सायण—हे इष्टः । तृजन्तस्य सम्बुद्धिः ।

सायण—हे एष्टः ।......यद्वा एष्टा इति प्रथमान्तम् ।

भट्टभास्कर—हे एष्टः एषणशील ।

केचिन्निघ्रायां वर्णव्यत्ययेन इकारस्यैकारमाहुः । अनामन्त्रितत्वं च मन्यन्ते । तदा आद्युदात्तत्वं च दुर्लभम् । शाखान्तरे तु—आ इष्टः एष्ट इति मत्वा अवग्रहं कुर्वन्ति ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तै० सं० के पदपाठ में **एष्टः** एक पद है और माध्यन्दिन पदपाठ में **आऽइष्टाः** इस प्रकार का अवगृहीत पद है। तै० में यह पद सम्बोधन के अर्थ में है और माध्यन्दिन में **रायः** का विशेषण है।

पदपाठकार और महाभाष्य

पतञ्जलि मुनि अपने महाभाष्य में तीन स्थानों पर निम्नलिखित वचन लिखते हैं—

न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः । पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् । यथालक्षणं पदं कर्तव्यम् ।

अर्थात्—पदकारों के पीछे व्याकरण का सूत्र नहीं चलना चाहिए। पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना चाहिए। जैसा सूत्र हो वैसा पद होना चाहिए।

इन तीन स्थानों में से पहले स्थान में पतञ्जलि कहता है कि **आज्यम्** के पद बनाते समय **आऽज्यम्** इस प्रकार से अवग्रह होना चाहिए । यह पद ऋग्वेद के दशम मण्डल में कई वार आया है। वहां इस पद में अवग्रह नहीं है।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर पतञ्जलि का मत है कि **आशितं** पद में **आ** के पश्चात् अवग्रह चाहिए।[२] यह पद भी ऋग्वेद के दशम मण्डल में बिना अवग्रह के है।

तीसरे स्थान में पतञ्जलि का मत **अक्षण्वान्** पद के विषय में है ।[३] वह समझता है कि इस पद में अवग्रह नहीं चाहिए । ऋग्वेद १।१६४।१६

१—३।१।१०३॥ कीलहार्न का द्वितीय संस्करण भाग २, पृ० ८५ ।

२—६।१।२०७॥भाग ३, पृ० ११७ ।

३—८।२।१६॥ भाग ३, पृ० ३९७ ।

के पदपाठ में यहां अवग्रह मिलता है

केवल वैय्याकरण होने से पतञ्जलि ने पदपाठ के सम्बन्ध में यह कहा है। उसका मत है कि पाणिनीयाष्टक ही सब वेदों का प्रातिशाख्य है—

सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम् ।[1]

अतः अपने शास्त्र की महत्ता दिखाना उसका ध्येय है।

आदित्य शब्द पर स्कन्द का लेख

आदित्य पद के विषय में निरुक्त भाष्यकार स्कन्दस्वामी लिखता है—

शाकल्यात्रेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम् । पूर्वनिर्वचनाभिप्रायेण । गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति । तदेव कारणम्।[2] **विचित्राः पदकाराणामभिप्रायाः । क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति । यथा शाकल्येन अधिवासम् इति नावगृहीतम् । आत्रेयेण तु अधि । वासम् । इत्यवगृहीतम् । तस्मादवग्रहोऽनवग्रह इति । २।१३॥**

अर्थात्--शाकल्य और आत्रेय आदि आदित्य पद में अवग्रह नहीं करते। गार्ग्य आदि करते हैं। यास्क ने दोनों के अनुसार निर्वचन दिखाया है। पदकारों की विचित्र गति है। कई उपसर्ग का भी अवग्रह नहीं करते। शाकल्य अधिवासम् में अवग्रह नहीं करता आत्रेय करता है।

१—२।१।५८॥ भाग १, पृ० ४००।

२—यह पाठ संदिग्ध है।

षष्ठ अध्याय

निरुक्तकार

पदपाठों के साथ ही निरुक्तों के काल का आरम्भ हो जाता है। निरुक्त-कारों ने यद्यपि किसी वेद का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया, तथापि उन्होंने अनेक मन्त्रों का भाष्य अवश्य किया है। वह भाष्य प्राचीनता की दृष्टि से बड़ा प्रामाणिक है। ये निरुक्त संख्या में कभी चौदह थे। इस सम्बन्ध में दुर्ग लिखता है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्। व्याकरणमष्टप्रभेदम्।[1]

व्याकरणमष्टधा। निरुक्तं चतुर्दशधा इत्येवमादि।[2]

अर्थात्—निरुक्त चौदह प्रकार का है और व्याकरण आठ प्रकार का है।

दुर्ग के इस वचन पर श्री राजवाड़े का लेख

निरुक्त पर दुर्ग भाष्य के सर्वोत्तम संस्करण के सम्पादक श्री० वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े एम० ए० ने दुर्ग के इन वचनों पर निम्नलिखित टिप्पणी की है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदं=निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायाः।[3]

यास्कात्पुरातनानि सर्वाणि निरुक्तशास्त्राणि चतुर्दशाध्यायात्मकान्यासन्निति कथं ज्ञायते।[4]

इस लेख से प्रतीत होता है कि राजवाड़े की सम्मति में दुर्ग के लेख का यह अर्थ है कि प्रत्येक निरुक्त के चौदह अध्याय थे।

१—निरुक्त भाष्य १।१३॥

२—निरुक्तभाष्य १।२०॥

३—टिप्पणी पृ० २७।

४—टिप्पणी पृ० ४८।

राजवाड़े की भूल

आचार्य दुर्ग निरुक्त १।२०॥ की व्याख्या करते हुए लिखता है—

एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। एकशतधाध्वर्यवम्। सहस्रधा सामवेदम्। नवधाथर्वणम् ।१।२०॥

अर्थात्—२१ प्रकार का ऋग्वेद, १०१ प्रकार का यजुर्वेद, १००० प्रकार का सामवेद और ६ प्रकार का अथर्ववेद है।

२१ प्रकार के ऋग्वेद का यह अर्थ नहीं हो सकता कि ऋग्वेद के २१ मण्डल हैं। इसी प्रकार **निरुक्तं चतुर्दशधा** का यह अर्थ नहीं हो सकता है कि निरुक्त के १४ अध्याय हैं, प्रत्युत इसका तो यही अर्थ है कि निरुक्त चौदह थे।

चौदह निरुक्तकार

यास्क अपने निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों को उद्धृत करता है, उनमें से निम्नलिखित बारह निरुक्तकार प्रतीत होते हैं—

(१) औपमन्यव (२) औदुम्बरायण (३) वार्ष्यायणि (४) गार्ग्य (५) आग्रायण (६) शाकपूणि (७) और्णवाभ (८) तैटीकि (९) गालव (१०) स्थौलाष्ठीवि (११) क्रौष्टुकि (१२) कात्थक्य। तेरहवां निरुक्तकार यास्क स्वयं है। चौदहवां कौन था, यह अभी ज्ञात नहीं हो सका। संभव है, वह शाकपूणि का पुत्र हो। इसका उल्लेख निरुक्त १२।११॥ में मिलता है। इससे भी अधिक संभव है कि वह **कौत्सव्य** हो। इसका निरुक्त-निघण्टु आथर्वण परिशिष्टों में से एक है।

प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना निघण्टु आप बनाया

हमारी प्रतिज्ञा है कि इन चौदह निरुक्तकारों में से प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना अपना निघण्टु आप बनाया था। उसी निघण्टु पर उसने निरुक्तरूपी व्याख्या लिखी। इस प्रतिज्ञा के साथ के हेतु और उदाहरण शाकपूणि और यास्क के निरुक्त और निघण्टुओं के वर्णन के समय आगे मिलेंगे। यहां हम सामान्यरूप से उन शब्दों का उल्लेख करेंगे, जो विलुप्त निघण्टु ग्रन्थों के भाग थे। ये शब्द यास्कीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में पाए जाते हैं।

यास्कीय निरुक्त में विलुप्त निघण्टुओं से प्रमाण

नैरुक्तों की श्रेणी में यास्क सबसे अन्तिम है। उसने उस सारी सामग्री से काम लिया है, जो उसके पूर्वज उसके लिए छोड़ गए थे। निघण्टु ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत करते समय यास्क अभीष्ट वैदिक शब्द के निघण्टु प्रदर्शित अर्थ के साथ **नाम** और क्रिया के धातु से **कर्मा** पद का प्रयोग करता है। जैसे—

वव्रिरिति रूपनाम। निरुक्त। २।६॥

अप्न इति रूपनाम। निरुक्त ३।७॥

बृबूकमित्युदकनाम। निरुक्त २।२२॥

ये तीनों शब्द निघण्टु ३।७॥ और १।१२॥ में क्रमशः इन्हीं अर्थों में पढ़े गए हैं। इसी प्रकार—

मंहतेर्दानकर्मणः । निरुक्त **१।७॥**

दाशतेः...दानकर्मणः। निरुक्त १।७॥

ये दोनों प्रमाण निघण्टु ३।२०॥ में इसी अर्थ में मिलते हैं। यास्कीय निरुक्त में ठीक इसी प्रकार से पढ़े हुए अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो इस निघण्टु में नहीं मिलते। वे प्रमाण निस्सन्देह प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों से लिए गए हैं। यथा—

मत्सर	इति	लोभनाम	२।५॥
विः	इति	शकुनिनाम	२।६॥
प्रथम	इति	मुख्यनाम	२।२२॥
सुः	इति	प्राणनाम	३।८॥
स्वस्ति	इति	अविनाशनाम	३।२१॥
रपो रिप्रम्	इति	पापनामनी	४।२१॥
श्वात्रम्	इति	क्षिप्रनाम	५।३॥
शम्ब	इति	वज्रनाम	५।२४॥
तुर	इति	यमनाम	१२।१४॥
दक्षतेः	समर्धयतिकर्मणः		१।७॥
दक्षतेः	उत्साहकर्मणः		१।७॥
ह्रादतेः	शब्दकर्मणः		१।६॥
ह्रादतेः	शीतीभावकर्मणः		१।६॥

ददातेः	धारयतिकर्मणः	२।२॥
क्षियतः	निवासकर्मणः	२।६॥
ब्रवीतेः	शब्दकर्मणः	२।२२॥

इन में से **श्वात्रम्** को यास्क निघण्टु २।१०॥ में **धननामों** में पढ़ता है। पुनः वह इसी शब्द को निघण्टु ४।२॥ में पढ़ता है। उस की व्याख्या निरुक्त ५।३॥ में है। वहीं यास्क किसी प्राचीन निघण्टु का पूर्वोक्त **क्षिप्रार्थ** पढ़ता है। **क्षियति** को यास्क **गतिकर्मा** के अर्थ में पढ़ता है।

यास्कीय निरुक्त में आए हुए प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों के ये प्रमाण हम ने दिग्दर्शनमात्र के लिए दिए हैं। हमारी सूची यहीं पर समाप्त नहीं होती।

पातञ्जल व्याकरण-महाभाष्य में लुप्त वैदिक निघण्टु-ग्रन्थों के प्रमाण

गृणातिः	शब्दकर्मा	३।२।१४॥
प्रातिः	पूरणकर्मा	३।४।३२॥
दिवेः	ऐश्वर्यकर्मणः	५।१।५८॥
दक्षेः	वृद्धिकर्मणः	५।१।५८॥

निघण्टु २।२१॥ में यास्क चार ऐश्वर्यकर्मा आख्यात पढ़ता है। उनमें दिव् नहीं है।

उवट के यजुर्वेदभाष्य में लुप्त०

एह	इति	अपराध नाम	४।२८॥
रेप	इति	पापनाम	५।३॥
सृका	इति	आयुधनाम	१६।६१॥
घृणिः	इति	दीप्तिनाम	१०।१०॥

इनमें से निघण्टु २।१३॥ में **एहः** क्रोधनामों में पढ़ा गया है। यास्क निरुक्त ४।२१॥ में **रपो रिप्रम्** दो **पाप नाम** देता है। उवट **रेप** का पाप नाम पढ़ता है। प्रतीत होता है किसी प्राचीन निघण्टु में पाप के ये तीनों नाम एक स्थान में ही पढ़े गए थे। **सृकः** निघण्टु २।२०॥ में वज्रनामों में पढ़ा गया है। **घृणः** पद निघण्टु १।६॥ में अहर्नामों में पढ़ा गया है। डा० स्वरूप के निघण्टु के संस्करण में इसी पद पर दो कोशों का पाठान्तर **घृणिः** भी

दिया गया है। उवट के पास या तो कोई पुराने निघण्टु थे, या वह किसी पुरातन भाष्य से ये प्रमाण ले रहा है।

भट्ट भास्कर के तै० सं० भाष्य में लुप्त०

हम पूर्व पृ० ११३ पर भट्टभास्करपठित प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों के प्रमाण लिख चुके हैं। वे यहां दोहराए जाते हैं। उन के पते उसी पृष्ठ की टिप्पणी में देखने चाहिएं।

विव इति धननाम।

ओम्, स्वाहा, स्वधा, वषट्, नम इति पञ्चब्रह्मणो नामानि।

मतिः इति स्तुतिनाम।

गर्तम् इति रथनाम।

लेकतिर्दर्शनकर्मा।

वररुचि के निरुक्तसमुच्चय में लिखा है—

वर्हिः इति यज्ञनाम।

वें० माधव ऋग्भाष्य ४।१६।१३॥ में लिखता है—

अत्क इति रूपनाम।

अन्य वेदभाष्यों में भी इसी प्रकार से कई और प्रमाण मिलते हैं। विस्तर भय से हम उन्हें यहां नहीं लिखते। इस से विज्ञात होता है कि निघण्टु ग्रन्थ संख्या में बहुत थे। इस बात को यास्क स्वयं स्वीकार करता है—

तान्यप्येके समाम्नन्ति ७।१५॥

अर्थात्—अमुक प्रकार के देवता पद भी कई आचार्य निघण्टु-ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं। यह वचन यास्क ने इसी खण्ड में दो बार पढ़ा है। इस से निश्चित होता है कि यास्क से पहले आचार्य भिन्न भिन्न अभिप्रायों से अपने अपने निघण्टुओं में देवता-पदों का समाम्नान कर चुके थे।

निघण्टु ग्रन्थ अनेक थे, उपलब्ध निघण्टु यास्क प्रणीत है, प्राचीन निघण्टु-ग्रन्थों का आधार प्रधानतया ब्राह्मण ग्रन्थ ही थे, इन विषयों की विवेचना इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ० १३२-१३६ तक हो चुकी है।

इस प्रकार जब हमें अनेक निघण्टुओं के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है,

तो यह मानना अयुक्त नहीं कि प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना निघण्टु आप बनाया।

अब हम क्रमशः उन नैरुक्तों का वर्णन करेंगे जिन के नाम पृ० १६२ पर गिनाए गए हैं।

(१) औपमन्यव

आचार्य औपमन्यव का मत बारह वार इस निरुक्त में उपस्थित किया गया है। एक वार वह बृहद्देवता में उद्धृत है।

१–निघण्टुः—ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः।१।१॥

२–दण्डः—दमनात् इत्यौपमन्यवः। २।२॥

३–परुषे—भास्वति इत्यौपमन्यवः। २।६॥

४–ऋषिः—स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः। २।११॥

५–पञ्चजनाः—चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः। ३।८॥

६–ऋषिः कुत्सः—कर्ता स्तोमानाम् इत्यौपमन्यवः। ३।११॥

७–काकः—न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः। ३।१८॥

८–यज्ञः—बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। ३।१९॥

९–शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवति इत्यौपमन्यवः।५।७॥

१०—काणः—विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः। ६।३०॥

११—विकटः—विक्रान्तगतिः इत्यौपमन्यवः। ६।३०॥

१२—इन्द्रः—इदं दर्शनात् इत्यौपमन्यवः।१०।८॥

इन बारह स्थानों के अध्ययन से अनेक बातों का पता लगता है। प्रथम प्रमाण बताता है कि सम्भवतः औपमन्यव के निरुक्त का आरम्भ भी निघण्टु शब्द के निर्वचन से ही था, और औपमन्यव ने भी कोई निघण्टु बनाया होगा। औपमन्यव ने कोई निघण्टु बनाया था, यह अनुमान प्रमाण ९ से और भी दृढ़ हो जाता है। यास्क अपने निघण्टु ४।२॥ में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़ता है। वहां वह उन का अर्थ नहीं देता। औपमन्यव के निघण्टु में सम्भवतः ये दोनों शब्द विष्णु के पर्यायों में पढ़े गए थे। उन्हीं के व्याख्यान

में औपमन्यव ने लिखा होगा कि पहला अर्थात् शिपिविष्ट पद निन्दावाची है।

दूसरा प्रमाण दण्ड का निर्वचन बताता है। तीसरा भी साधारण अर्थ द्योतक है। चौथे और छठे से पता लगता है कि **कर्ता स्तोमानाम्** का अभिप्राय द्रष्टा स्तोमानाम् ही है, क्योंकि ऋषि दर्शन करने से कहा ही गया है। पांचवा प्रमाण औपमन्यव के मत में **पञ्चजनाः** का अर्थ बताता है। सातवां प्रमाण बताता है कि औपमन्यव भाषा-विज्ञान का बड़ा अग्न्याबुद्धि पण्डित था। वह जानता था कि पक्षियों के नाम उनके उच्चारण मात्र से ही नहीं बनें।। आठवां प्रमाण साधारण है। दसवें और ग्यारहवें प्रमाण से पूरा निश्चित होता है कि औपमन्यव के निरुक्त में ऋ० १०।१५५।१॥ मन्त्र पढ़ा गया था। अन्तिम प्रमाण इन्द्र पद का निर्वचन बताता है।

गुस्टव आपर्ट के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के सूचीपत्र भाग २ पृ० ५१० पर दक्षिण के किसी घर में **उपमन्युकृत निरुक्त** का अस्तित्व बताया गया है। सम्भव है खोज करने पर यह निरुक्त मिल ही जाए।

उपमन्यु पिता का नाम है और औपमन्यव पुत्र का। निरुक्त औपमन्यवकृत ही होगा। यास्क का साक्ष्य इस विषय में अधिक प्रमाण है।

चरणव्यूह आदि ग्रन्थों में चरकों के अवान्तर विभागों में से **औपमन्यवाः** भी है। क्या उनका निरुक्तकार औपमन्यव से कोई सम्बन्ध था।

---

(२) औदुम्बरायण।

इस का मत निरुक्त १।१॥ में उद्धृत है। उस से इस के विषय में कुछ अधिक पता नहीं लगता।

---

(३) वार्ष्यायणि

इस का वचन निरुक्त १।२॥ में मिलता है—

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। अतोऽन्ये भावविकारा एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह स्माह।

भाष्यकार पतञ्जलि १।३।१॥ में लिखता है—

षड्भावविकारा इति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति इति।

यह विचार वार्ष्यायणि ने **भाव** शब्द की व्याख्या में किया होगा। जिस पुरुष को पतञ्जलि भगवान् कहता है, वह निस्सन्देह बड़ा महापुरुष होगा।

(४) गार्ग्य

गार्ग्य का उल्लेख यास्क तीन बार करता है।

(१) उपसर्गाः—उच्चावचाः पदार्था भवन्ति इति गार्ग्यः १।३॥

(२) नाम—न सर्वाणि [नामानि आख्यातजानि] इति गार्ग्यः। १।१२॥

(३) उपमाः—यदतत्तत्सदृशम् इति गार्ग्यः। ३।१३॥

इन तीन स्थानों में से पहले स्थान में गार्ग्य का यह मत बताया गया है कि उपसर्ग बहुप्रकार का अपना अर्थ रखते हैं।

दूसरे प्रमाण पर स्कन्द का भाष्य निम्नलिखित है—

न सर्वाणि इति गार्ग्यो नैरुक्तविशेषः।

अर्थात्—सारे नाम आख्यातज नहीं हैं। डित्थ डवित्थ आदि शब्दों के धातु की कल्पना कठिन है।

तीसरे प्रमाण में गार्ग्यकृत उपमा का लक्षण बताया गया है।

नैरुक्त गार्ग्य ही सामपदपाठकार गार्ग्य था

हम पहले पृ० १५२ पर एक गार्ग्य का वर्णन कर चुके हैं। वह गार्ग्य साम-पदपाठकार है। वही गार्ग्य है जो अपने पदपाठ में प्रत्येक उपसर्ग को पृथक् करने का यत्न करता है। ऋग्वेद के पदपाठ में **विप्र** पद में कोई अवग्रह नहीं। साम में वि। प्रासः। ऐसा पदपाठ है। इसी प्रकार ऋग्वेद के पदपाठ में **सूनृता** पद में कोई अवग्रह नहीं। सामपदपाठ में सु। नृता। है। निरुक्त में गार्ग्य का जो प्रथम प्रमाण दिया गया है, तदनुसार उपसर्ग अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। सामपदपाठकार के मन में यही बात बैठी हुई प्रतीत होती है। इस से अनुमान होता है कि एक ही गार्ग्य ने निरुक्त रचा और सामपदपाठ बनाया। उसी के निरुक्त के प्रमाण यास्क ने दिए हैं।

गार्ग्य का नाम एक वार बृहद्देवता १।२६॥ में मिलता है। वहां उस का विचार यास्क और शाकपूणि के समान ही है। एक गार्ग्य अष्टाध्यायी में तीन वार उद्धृत है। सूत्र ८।३।२०॥ के महाभाष्य के देखने से यह निश्चय होता है कि यह गार्ग्य सामपदपाठकार ही होगा। अन्य दो स्थानों में उस का नाम गालव के साथ आता है।

---

(५) आग्रायण

आग्रायण का मत इस निरुक्त में चार वार उद्धृत किया गया है—

(१) अक्षि—अनक्तेः इत्याग्रायणः। १।६॥

(२) कर्णः—ऋच्छतेः इत्याग्रायणः। १।६॥

(३) नासत्या—सत्यस्य प्रणेतारौ इत्याग्रायणः। ६।१३॥

(४) इन्द्रः—इदं करणात् इत्याग्रयणः। १०।८॥

इन में से पहले और दूसरे प्रमाण से निश्चित होता है कि आग्रायण के निरुक्त में ऋ० १०।७१।७॥ मन्त्र पढ़ा गया था। उसी में ये दोनों शब्द हैं, जिन का उस का किया हुआ निर्वचन यास्क उद्धृत करता है। तीसरे प्रमाण में **नासत्या** का निर्वचन है। चौथा प्रमाण मूल निरुक्त में आग्रयण के नाम से मिलता है, परन्तु राजवाड़े-सम्पादित दुर्गभाष्य में आग्रायण के नाम से ही है।

---

(६) शाकपूणि[१]

अब तक जिन पांच नैरुक्तों का वर्णन हो चुका है, उन के निरुक्तों के ही प्रमाण मिलते हैं। परन्तु शाकपूणि एक ऐसा नैरुक्त है जिस के निघण्टु के भी प्रमाण मिलते हैं

शाकपूणि का निघण्टु

स्कन्द-महेश्वर के निरुक्तभाष्य १।४॥ में लिखा है—

दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम्।

अर्थात्—दाश्वान का यजमान अर्थ शाकपूणि ने अपने निघण्टु में पढ़ा है।

१—शाकपूणि के सम्बन्ध में देखो मेरा लेख श्री पाठक-स्मारक-ग्रन्थ में।

स्कन्दस्वामी अपने ऋग्वेदभाष्य ६।६२।३॥ में भी लिखता है—

दाश्वान् इति यजमाननाम।

पुनः स्कन्द-महेश्वर के निरुक्तभाष्य ३।१०॥ में लिखा है—

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश—इन्वति। नक्षति। आद्यः। शाकपूणेरतिरिक्ता एते—विव्याक। विव्याच। उरुव्यचाः। विव्रे। इति व्याप्तिकर्माणः।

यही पाठ स्वल्प पाठान्तर से देवराज के निघण्टु भाष्य २।१३८॥ में मिलता है। देवराज इसे स्कन्दस्वामी के नाम से उद्धृत करता है। है यह पाठ बड़ा अशुद्ध। इससे प्रतीत होता है कि शाकपूणि के निघण्टु में व्याप्तिकर्म वाले ये चार आख्यात पढ़े गए थे।

आत्मानन्द **अस्य वामस्य** सूक्त के मन्त्र चालीस के भाष्य में लिखता है—

उदकम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः।

इसी का पाठान्तर है—

उदकम्-कम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः।

यास्कीय निघण्टु के लघुपाठ में सुखनामों में **कम्** नहीं पढ़ा गया, परन्तु बृहत्पाठ में यह पढ़ा गया है। सम्भव है आत्मानन्द के पास यास्कीय निघण्टु का लघुपाठ ही हो, बृहत्पाठ न हो, अतः उसने **कम्** का **सुखनाम** शाकपूणि के निघण्टु से दिया हो।

शाकपूणि के निघण्टु का स्वरूप

आचार्य दुर्ग निरुक्त ८।५॥ के भाष्य में लिखता है—

शाकपूणिस्तु पृथिवीनामभ्य एवोपक्रम्य स्वयमेव सर्वत्र क्रमप्रयोजनमाह।

अर्थात्—शाकपूणि के निघण्टु का आरम्भ भी पृथिवी के पर्यायों से ही था। शाकपूणि ने अपने निघण्टु में जो क्रम रखा है, उसका प्रयोजन उसने सर्वत्र बता दिया है। शाकपूणि के निघण्टु की इस यास्कीय निघण्टु से यह विशेषता थी।

निरुक्त-वार्तिक में लिखा है—

क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम् ।
प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत् ॥[1]

अर्थात्—नामों के क्रम का प्रयोजन जो शाकपूणि ने बताया है, वही जानना चाहिए। अन्य प्रयोजन की भी कल्पना करनी चाहिएं, बुद्धि को बन्द नहीं करना चाहिए।

इसी निघण्टु पर शाकपूणि ने अपना निरुक्त रचा।

शाकपूणि का निरुक्त

यास्क अपने निरुक्त में बीस वार शाकपूणि के निरुक्त से प्रमाण देता है। एक वार वह इसे निरुक्त के परिशिष्ट में उद्धृत करता है। सात वार शाकपूणि का मत बृहद्देवता में दिया गया है। तीन वार बृहद्देवता में उसका रथीतर के विशेषण से स्मरण किया गया है। रथीतर शाकपूणि का ही अपर नाम है, इस विषय में पुराणों के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

प्रोवाच संहितास्तिस्रः शाकपूणीरथीतरः ।
निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थं द्विजसत्तमः ॥[2]
रथीतरो निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थकम् ॥[3]
संहितात्रितयं चक्रे शाकपूणीरथीतरः ।
निरुक्तमकरोत्तत्तु चतुर्थं मुनिसत्तम ॥
क्रौंचो वैतालकिस्तद्वद्बलाकश्च महामतिः ।
निरुक्तकृच्चतुर्थोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः ॥[4]

अर्थात्—शाकपूणि रथीतर ने तीन ऋक्-संहिताओं का प्रवचन किया और फिर चौथा निरुक्त बनाया। रथीतर ने चौथा निरुक्त बनाया।

अन्तिम श्लोक का पूर्वार्ध बड़ा भ्रष्ट प्रतीत होता है। क्या उसका निम्नलिखित पाठ हो सकता है—

१—दुर्ग ने निरुक्त ८।५॥ में यह वचन उद्धृत किया है।

२—ब्रह्माण्ड पूर्वभाग ३५।३॥ वायु ३०।६५॥

३—वायु ६१।२॥

४—विष्णु ३।४।२३, २४॥

क्रौष्टुकिरथ तैटीकिर्गालवश्च महामतिः ।

इन श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शाकपूणि का ही अपर नाम रथीतर था ।

यास्क अपने निरुक्त में शाकपूणि के निरुक्त से निम्नलिखित प्रमाण देता है—

१—तळित्[1]—विद्युत्तळिद्भवति इति शाकपूणिः । ३।११॥

२—महान्—मानेनान्यान् जहाति इति शाकपूणिः । ३।१३॥

३—ऋत्विक्—ऋग्यष्टा भवति इति शाकपूणिः । ३।१६॥

४—शिताम्—योनिः शिताम् इति शाकपूणिः । ४।३॥

५—विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके—कल्पयोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि इति शाकपूणिः । ४।१५॥

६—ऋ० १०।८१।१॥ ऋ० ६।१०७।६॥
ऋ० १०।२८।४॥—सर्वे द्वियतिनिगमा इति शाकपूणिः । ५।३॥

७—अप्सराः—स्पष्टं दर्शनाय इति शाकपूणिः । ५।१३॥

८—अच्छाभेराप्तुम् इति शाकपूणिः । ५।२८॥

९—अग्निः—त्रिभ्य आख्यातिभ्यो जायत इति शाकपूणिः । ७।१४॥

१०-११—त्रेधा—पृथिव्यामन्तरिक्षे दिव इति शाकपूणिः । ७।२८॥ १२।१९॥

१२—द्रविणोदाः—अयमेवाग्निर्द्रविणोदा इति शाकपूणिः । ८।३॥

१३—इध्मः—अग्निः इति शाकपूणिः । ८।५॥

१४—तनूनपात्— ,, ,, ,, ।८।५॥

१५ नराशंसः— ,, ,, ,, ।८।६॥

१६—द्वारः — ,, ,, ,, ।८।१०॥

१७—त्वष्टा — ,, ,, ,, ।८।१४॥

१८—वनस्पतिः— ,, ,, ,, ।८।१७॥

१—यह शब्द ऋग्वेद में दो वार आया है । शाकपूणि का व्याख्यान ऋ० २।२३।९॥ पर होगा ।

१९—वनस्पतिः अग्निः इति शाकपूणिः ।८।१२।

२०—यदेव विश्वलिङ्गम् इति शाकपूणिः ।१२।४०॥

२१—अक्षरम्—ओमित्येषा वाग् इति शाकपूणिः । १३।१०॥

संख्या १३—१९ तक जो पद हैं, उनके देखने से पता लगता है कि शाकपूणि के निघण्टु के दैवतकाण्ड में ये सब शब्द पढ़े गए थे।

बृहद्देवता में शाकपूणि

१—जातवेदस्येति सूक्तसहस्रमेक
ऐन्द्रात्पूर्वं कश्यपार्षं वदन्ति ।
जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषाम्
एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः ॥३।१३०॥

२—संप्रवादं रोमशयेन्द्रराज्ञोर्
एते ऋचौ मन्यते शाकपूणिः ॥ ३।१५५॥

३—शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने
सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः ॥ ५।८॥

४—इळस्पतिं शाकपूणिःपर्जन्याग्नी तु गालवः ॥५।३९॥

५—महानैन्द्रं प्रलवत्यामग्निं वैश्वानरं स्तुतम् ।
मन्यते शाकपूणिस्तु भार्म्यश्वश्चैव मुद्गलः ॥ ६।४६॥

६—ऋत्विजो यजमानं च शाकपूणिस्तु मन्यते ।७।७०॥

७—मुद्गलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः ॥९०॥
त्रिस्थानाधिष्ठितां वाचं मन्यन्ते प्रत्यृचं स्तुताम् ।८।९१॥

बृहद्देवता में रथीतर नाम से शाकपूणि का स्मरण

८—तत्खल्वाहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते ।
सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वान्यदिह किञ्चन ॥२३॥
चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्यरथीतराः ।
आशिषोऽथार्थवैरूप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥१।२६॥

९—एकादश्या तु नासत्यौ द्वादश्याग्निमिमं पुनः ।
पृथक्पृथक्स्तुतीदं तु सूक्तमाह रथीतरः ॥३।४०॥

१०--आपान्तमन्युरित्यैन्द्रयां स्तुतः सोमोऽत्र दृश्यते ।१४४।
निपातभाजं सोमं च अस्यां रथीतरोऽब्रवीत् ।७।१४५॥

अर्थात्—कई आचार्य कहते हैं कि जातवेदस् के सहस्र सूक्तों का जो इन्द्र सूक्त से पहले हैं, कश्यप ऋषि है। उन में से पहला **जातवेदसे** सूक्त है। शाकपूणि मानता है कि अगले अगले सूक्त में एक एक मन्त्र बढ़ता जाता है ॥१॥

शाकपूणि मानता है कि ऋ० १।१२६।६,७॥ में इन्द्र और राजा का रोमशा के साथ संवाद है ॥२॥

यास्क शुनासीर को इन्द्र मानता है और शाकपूणि इन को सूर्य और इन्द्र मानता है ॥३॥

ऋ० ५।४२।१४॥ का देवता शाकपूणि इळस्पति मानता है और गालव पर्जन्याग्नी ॥४॥

महान् (ऋ० ८।६॥) इन्द्र का सूक्त है। **प्रत्न** ऋ० ८।६।३०॥ मन्त्र में शाकपूणि और भृम्यश्व का पुत्र मुद्गल मानते हैं कि वैश्वानर अग्नि स्तुत है ॥५॥

शाकपूणि मानता है कि चार ऋत्विज और पांचवा यजमान यही पञ्च-जन होते हैं ॥६॥

ऋ० १०।१८६॥ के सम्बन्ध में मुद्गल, शाकपूणि और शाकटायन मानते हैं कि तीन स्थानों में विस्तृत **वाक्** की प्रत्येक ऋचा में स्तुति है ॥७॥

इस सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं कि वैदिक सत्त्वों का अथवा जो कुछ अन्य इस संसार में है, उन का नाम कितने कर्मों से उत्पन्न होता है। इस के उत्तर में यास्क, गार्ग्य और रथीतर कहते हैं कि प्रार्थना, पदार्थों की विभिन्नता, वाणी और कर्म इन चार से [नाम उत्पन्न होते हैं] ॥८॥

ऋ० १।१५।११ ॥ से नासत्यों की और बारहवीं ऋचा से पुनः अग्नि की स्तुति है। रथीतर कहता है कि इस सूक्त में पृथक् पृथक् स्तुति है। ६॥

ऋ० १०।८६।५॥ इन्द्र की ऋचा में सोम स्तुत हुआ हुआ दिखाई देता है। रथीतर ने कहा था कि इस ऋचा में सोम निपातभाक् है ॥१०॥

स्कान्द ऋग्भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त का प्रमाण

स्कन्दस्वामी अपने ऋग्वेदभाष्य ६।६१।२॥ में लिखता है—

तथा च शाकपूणिना नद्यभिधायिनः सरस्वतीशब्दस्य परिगणने—अथैषा नदी। चत्वार एव तस्या निगमा भवन्ति—

दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि।[1]

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु।[2]

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति।[3]

सरस्वती सरयुः सिन्धुरूर्मिभिः।[4]

पञ्चममप्युदाहरति—अम्बितमे नदीतमे।[5] **इति**

अत्रायं न षष्ठः परिगणित इति॥

अर्थात्—[वेद में सरस्वती शब्द देवता अर्थ और नदी अर्थ में आता है।] इनमें से नदी वाची सरस्वती शब्द के प्रसङ्ग में शाकपूणि ने लिखा है—

चार ही उसके मन्त्र हैं। पांचवां भी उस ने उद्धृत किया है। यहां यह ६।६१।२॥ छठा नहीं गिना।

चार ही कह कर शाकपूणि ने पांचवां मन्त्र इस अर्थ में कैसे पढ़ा, यह हमारी समझ में नहीं आया।

इस सम्बन्ध में बृहद्देवता अध्याय २ के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

सरस्वतीति द्विविधम् ऋक्षु सर्वासु सा स्तुता॥१३५॥

नदीवद्देवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः।

नदीवन्निगमाः षट् ते सप्तमो नेत्युवाच ह॥१३६॥

अम्ब्येका च दृषद्वत्यां चित्र इमं[6] **सरस्वती।**

इयं शुष्मेभिरित्येतं मेने यास्कस्तु सप्तमम्॥१३७॥

अर्थात्—सब ऋचाओं में सरस्वती दो प्रकार से स्तुत है, नदीवत् और

१—ऋ० ३।२३।४॥

२—ऋ० ८।२१।१८॥

३—ऋ० १०।७५।५॥

४—ऋ० १०।६४।६॥

५—ऋ० २।४१।१६॥

६—इस पाठ के लिए मैकडानल्ल के संस्करण की टिप्पणी देखो।

देवतावत्। इस विषय में आचार्य शौनक कहता है कि नदीवत् के छः मन्त्र हैं। सातवां नहीं है। वे मन्त्र हैं ऋ० २।४१।१६॥ ७।६५।२॥ ३।२३।४॥ ८।२१।१८॥ १०।७५।७॥ १०।६४।६॥ यास्क ६।६१।२॥ को सातवां नदी स्तुति का मन्त्र मानता है।

शाकपूणि ७।६५।२॥ को नदी स्तुति नहीं मानता।

यास्कोद्धृत ६।६१।२॥ मन्त्र में नदी स्तुति है, इस पर बृहद्देवता-कार एक आपत्ति उठाता है। उस का विस्तृत उल्लेख दुर्ग निरुक्तभाष्य २।२४॥ में करता है। स्कन्द-महेश्वर भी निरुक्त भाष्य में इस का समाधान करता है। यह सब वहीं वहीं देखना चाहिए।

शाकपूणि, शौनक और यास्क में इस विषय पर कितना कम भेद है ?

आत्मानन्द के भाष्य में शाकपूणि का प्रमाण

हम पहले पृ० ५४ पर लिख चुके हैं कि ऋ० १।१६५।१४ के भाष्य म आत्मानन्द लिखता है—

चक्रं जगच्चक्रं भ्रमतीति वा चरतीति वा करोतीति वा चक्रम् इति शाकपूणिः।

यह स्पष्ट शाकपूणि के निरुक्त का प्रमाण है।

शाकपूणि का काल

जो प्रमाण ब्रह्माण्डादि पुराणों से पहले पृ० १७१ पर दिए जा चुके हैं, उनसे यह ज्ञात होता है कि शाकपूणि पदकार शाकल्य के काल के आसपास का ही है। शाखाप्रवर्तक होने से भी वह महाभारत के काल के समीप ही हुआ होगा।

स्कन्दस्वामी निरुक्त २।८॥ के भाष्य में लिखता है—

एवमर्थं पुराकल्पं पठन्ति—शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे।

अर्थात्—स्कन्द समझता है कि शाकपूणि का इतिहास यास्क के काल में पुराकल्प हो चुका था। शाकपूणि का पुत्र राथीतर नाम से बृहद्देवता ४।१४२॥ आदि में उद्धृत है। शाकपूणि का पुत्र निरुक्त १३ ११॥ में भी उद्धृत है। यास्क से उसका १०० वर्ष से कम का अन्तर नहीं होगा।

शाकपूणि का एक और ग्रन्थ

हम आगे यास्क के वर्णन में लिखेंगे कि यास्क ने निरुक्त के अतिरिक्त

एक याजुष सर्वानुक्रमणी भी लिखी थी। इसी प्रकार यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि शाकपूणि ने भी निरुक्त के सिवा कोई दूसरा ग्रन्थ लिखा हो—

भट्टभास्कर तै० सं० रुद्राध्याय के भाष्य में लिखता है—

द्वितीयादिनवान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादिनमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः।

अर्थात्—तैत्तिरीय संहिता रुद्राध्याय के दूसरे से नवम अनुवाक तक नमः से लेकर नमः तक एक ही यजुः है, ऐसा शाकपूणि मानता है। शाकपूणि ने यह बात निरुक्त में नहीं लिखी होगी क्योंकि इससे आगे जो यास्क का मत है, वह उसके निरुक्त में नहीं है। तो क्या शाकपूणि ने कोई और ग्रन्थ भी रचा था और उसका सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से था। -

आत्मानन्द अपने **अस्य वामस्य** सूक्त के भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त का कई वार स्मरण करता है। उसके लेख से प्रतीत होता है कि उसके पास यह निरुक्त था। आत्मानन्द बहुत प्राचीन ग्रन्थकार नहीं है। इस लिए यदि उसके पास शाकपूणि का निरुक्त था, तो अब भी इसके मिलने की बड़ी सम्भावना हो सकती है।

---

(७) और्णवाभ

यास्क अपने निरुक्त में पांच वार आचार्य और्णवाभ का स्मरण करता है। बृहद्देवताकार उसे एक वार उद्धृत करता है।

(१) उर्वी—वृणोतेः इत्यौर्णवाभः।२।२६॥

(२) नासत्यौ—सत्यावेव नासत्यौ इत्यौर्णवाभः।६।१३॥

(३) होता—जुहोतेर्होता इत्यौर्णवाभः।७।१५॥

(४) अश्विनौ—अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः।१२।१॥

(५) त्रिधा—समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसि इत्यौर्णवाभः। १२।१॥

इनमें से पहले चार प्रमाणों में निर्वचन मात्र है। पांचवें में यह बताया गया है कि वे तीन स्थान कौन से हैं, जहां विष्णु पाद रखता है। समारोहण आदि तीनों पदों का अर्थ विचारना चाहिए। दुर्ग और स्कन्द ने इनका अर्थ

उदयगिरि निदन-अन्तरिक्ष, और अस्तगिरि किया है। यह कहां तक सत्य है, यह भी द्रष्टव्य है।

बृहद्देवता में और्णवाभ का मत इस प्रकार है—

और्णवाभो द्वृचे त्वस्मिन्नश्विनौ मन्यते स्तुतौ ॥ ७।१२५॥

और्णवाभ का मत है कि ऋ० १०।८५। १८,१९ ॥ में अश्वियों की स्तुति की गई है ॥

---

(८) तैटीकि

तैटीकि का मत निरुक्त में दो स्थानों पर मिलता है।

१—शिताम—श्यामतो यकृत इति तैटीकिः ।४।३॥

२—बीरिटं-तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह ।५।२७॥

इन में से दूसरा प्रमाण दुर्ग के भाष्य में नहीं है। निरुक्त के लघुपाठ में भी यह नहीं है।

---

(९) गालव

गालव का मत एक वार निरुक्त में और चार वार बृहद्देवता में उद्धृत किया गया है।

१—शिताम—शिताम शितिमांसतो मेदस्त इति गालवः । ४।३॥

अर्थात्—शिताम का अर्थ है श्वेत मांसमेद। अतः शितामतः का अर्थ हुआ मेद से। यह गालव मानता है।

बृहद्देवता में गालव का मत

१—नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये ।
मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्वते ।१।२४।

२—इळस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ॥५।३९॥

३—पौष्णौ प्रेति प्रगाथौ द्वौ मन्यते शाकटायनः ।
ऐन्द्रमेवाथ पूर्वं तु गालवः पौष्णमुत्तरम् ॥ ६।४३॥

४—सावित्रमेके मन्यन्ते महो अग्ने स्तवं परम् ।
आचार्याः शौनको यास्को गालवश्चोत्तमामृचम् ॥ ७।३८

अर्थात्—नौ बातों से [नाम होता है]। यह नैरुक्त और मधुक, श्वेत-केतु और गालव पुराने कवि मानते हैं ॥१॥

बृहद्देवताकार की दृष्टि में ये तीनों पुराने कवि थे।

ऋ० ५।४२।१४॥ का देवता शाकपूणि इळस्पति मानता है और गालव पर्जन्याग्नी ॥२॥

ऋ० ८।४।१५-१८॥ प्रगाथ ऋचा पूष्ण की हैं, यह शाकटायन मानता है। गालव मानता है कि १५,१६ इन्द्र की हैं और १७,१८ पूष्ण की।

ऋ० १०।३६।१२-१४॥ तक कई सविता की स्तुति मानते हैं। और शौनक, यास्क और गालव अन्तिम ऋचा को ही ऐसा मानते हैं ॥४॥

गालव-प्रोक्त एक गालव-ब्राह्मण का उल्लेख हम इस इतिहास के दूसरे भाग के पृ० ३० पर कर चुके हैं। बृहद्देवताकार के इस वचन से कि गालव पुराने ऋषियों में से था। यह अनुमान होता है कि बृहद्देवता और निरुक्त में उद्धृत हुआ हुआ गालव यह ब्राह्मण प्रवक्ता गालव ही होगा।

महाभारत शान्तिपर्व में भी एक गालव का उल्लेख है। यदि वह यही गालव है, तो इतना निश्चित हो सकता है कि उस का गोत्र बाभ्रव्य था, और उसी ने ऋग्वेद का क्रमपाठ और एक शिक्षा बनाई।

पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद्भूतात् सनातनात्।
बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥१०३॥
नारायणाद्वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥१०४॥[1]

अर्थात्—गालव पाञ्चाल देश निवासी था। उस का गोत्र बाभ्रव्य था। वह पहला क्रमपारग था। उस ने [ऋग्वेद का] क्रमपाठ बना कर शिक्षा रची।

पाणिनीयाष्टक में एक गालव का चार वार स्मरण किया गया है।[2]

ऋक्प्रातिशाख्य ११।६५॥ में लिखा है कि—

१— महाभारत नीलकण्ठटीकासहित, शान्तिपर्व अध्याय ३४२

२— ६।३।६१॥ ७।१।७४॥ ७।३।९९॥ ८।४।६७॥

इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रमम् ।

अर्थात्—बाभ्रव्य ने क्रमपाठ बनाया। इस वचन के भाष्य में उवट लिखता है—

बभ्रुपुत्रः भगवान् पञ्चालः [पाञ्चालः ?] ।

महाभारत के लेख से ज्ञात होता है कि गालव का गोत्र बाभ्रव्य था। बभ्रुपुत्र होने से वह बाभ्रव्य नहीं कहलाया। उवट का कथन विचारणीय है।

---

(१०) स्थौलाष्ठीवि

यह आचार्य दो वार निरुक्त में उद्धृत किया गया है।

१—अग्निः—अक्नोपो भवति इति स्थौलाष्ठीविः । ७ । १४ ।

२—वायुः—एतेः इति स्थौलाष्ठीविः । १० । १ ॥

अर्थात्—रूखा करने या सुखा देने से अग्नि नाम है। इस आचार्य के अनुसार अ नकार के अर्थ में है अर्थात् जो गीला न करे। स्थौलाष्ठीवि के अनुसार इण् धातु से वायु शब्द का निर्वचन किया गया है। इस प्रकार वायु में **व** अनर्थक है।

---

(११) क्रौष्टुकि

आचार्य क्रौष्टुकि एक वार निरुक्त में और एक वार बृहद्देवता में उद्धृत है। निरुक्त में लिखा है—

तत्को द्रविणोदाः । इन्द्र इति क्रौष्टुकिः ॥ ८ । २ ॥

अर्थात्—इन्द्र ही द्रविणोदा है।

बृहद्देवता ४।१३७॥ में लिखा है—

सोमप्रधानामेतां तु क्रौष्टुकिर्मन्यते स्तुतिम् ।

अर्थात्—ऋ० ४।२८॥ में यह स्तुति प्रधानता से सोम की है, ऐसा क्रौष्टुकि मानता है।

---

(१२) कात्थक्य

आचार्य कात्थक्य का नाम सात वार इस निरुक्त में स्मरण किया गया है।

१—इध्मः—यज्ञेध्म इति कात्थक्यः ।८।५॥

२—तनूनपात्—आज्यम् इति कात्थक्यः ।८।५॥

३—नराशंसः—यज्ञ इति कात्थक्यः ।८।६॥

४—द्वारः—यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः ।८।१७॥

५—वनस्पतिः—यूप इति कात्थक्यः ।८।१०॥

६—देवी जोष्ट्री—सस्यं च समा च इति कात्थक्यः । ६।४१॥

७—देवी ऊर्जाहुती— ,, इति कात्थक्यः । ६।४२॥

कात्थक्य के इन सात प्रमाणों को देख कर एक बात सहसा मुख से निकलती है कि यह आचार्य नैरुक्त होता हुआ भी कोई बड़ा भारी याज्ञिक था। वह इन सात शब्दों का यज्ञ वा तत्सम्बन्धी अर्थ ही करता है।

कात्थक्य का बृहद्देवता अध्याय ३ में एक वार उल्लेख आया है—

पराश्चतस्रो यत्रेति इन्द्रोलूखलयो स्तुतिः ।
मन्येते यास्ककात्थक्याविन्द्रस्येति तु भागुरिः ॥१०॥

अर्थात्—ऋ० १।२८।१-४॥ इन्द्र और उलूखल की स्तुति है। ऐसा यास्क और कात्थक्य का मत है। परन्तु भागुरि इन्द्र की ही स्तुति मानता है। इस विषय में यास्क और कात्थक्य का समान मत है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उलूखल भी यज्ञ का ही पदार्थ है।

---

(१२) यास्क

अब हम एक ऐसे नैरुक्त का इतिहास लिखते हैं, जिस के विषय में कई बातें सुनिश्चितरूप से ज्ञात हैं, जिस का ग्रन्थ भी अब तक विद्यमान है और जिस के ग्रन्थ के भाष्य भी उपलब्ध हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यास्क ने भी अपना निघण्टु आप बनाया था? हमारा मत है कि हां, प्रस्तुत निघण्टु यास्क प्रणीत है। परन्तु दुर्गप्रभृति विद्वानों का मत है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क से बहुत पहले होने वाले ऋषियों की कृति है।

निघण्टुकार के विषय में दुर्ग का पूर्वपक्ष

निघण्टु यास्क-प्रणीत नहीं, प्रत्युत प्राचीन ऋषियों का रचा हुआ है, इस विषय में अपने निरुक्तभाष्य की भूमिका में दुर्ग लिखता है—

(१) **तस्यैषा गवाद्या देवपत्न्यन्ता पञ्चाध्यायी सूत्रसंग्रहः। सा च पुनरियं साक्षात्कृतधर्मभ्यो महर्षिभ्य उपदेशेन मन्त्रार्थमुपश्रुत्य श्रुतर्षिभिरवरशक्तिशैल्यमवेत्य तदनुजिघृक्षया वाक्यार्थसामर्थ्यादभिधेयानुमीयोन्नीय मन्त्रार्थावबोधाय छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाता।**

उसी निरुक्त का गौ से आरम्भ करके देवपत्नी के अन्त तक पांच अध्यायों में सूत्र संग्रह है। उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षियों ने किया।

पुनः वह १।२०॥ के भाष्य में लिखता है—

(२) **ते......इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः।**

अर्थात्—उन्हीं ऋषियों ने इस निघण्टु का समाम्नान किया।

आगे चल कर वह फिर निरुक्त ४।१८॥ के भाष्य में लिखता है—

(३) **एतस्मिन् मन्त्रे 'अकूपारस्य दावने' इत्ययमनयोः पदयोरनुक्रमः। समाम्नाये पुनः 'दावने अकूपारस्य' इति मन्त्रपाठव्यतिक्रमेणानुक्रमः। तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभिः समाम्नायः समाम्नातोऽन्य एव चायं भाष्यकार इति। एको हि समाम्नानं भाष्यं च कुर्वन् प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभङ्क्ष्यत्।**

अर्थात्—ऋ० ५।३६।२॥ मन्त्र में **अकूपारस्य दावने** ऐसा पदों का क्रम है। निघण्टु में दावने अकूपारस्य यह मन्त्रपाठ के विपरीत अनुक्रम है। इससे ज्ञात होता है कि दूसरे ऋषियों ने यह समाम्नाय बनाया है और यह भाष्यकार यास्क दूसरा है। एक ही निघण्टु और निरुक्त को बनाता हुआ विना प्रयोजन मन्त्रगतपाठ के अनुक्रम को न तोड़ता।

निरुक्त ५।१५॥ के भाष्य में दुर्ग लिखता है—

(४) **वाजगन्ध्यम् इत्येतदपि पदमेकस्मिन्नेव निगमे निरुक्तम्। केवलं समाम्नायानुक्रमविपर्यासः। वाजपस्त्यम्। वाजगन्ध्यम्। इत्येष समाम्नायानुक्रमः। निगमे पुनः अश्याम वाजगन्ध्यं सनेम वाजपस्त्यम् इति।**

अर्थात्—ऋ० ६।६८।१२॥ में दो पदों का और क्रम है और निघण्टु में और क्रम है।

स्कन्दस्वामी का पूर्वपक्ष

समाम्नायः समाम्नातः पर भाष्य करते हुए स्कन्द-महेश्वर लिखता है—

(१) **समाम्नायशब्देनात्र गवादिर्देवपत्न्यन्तः शब्दसमूह उच्यते न वेदः। समाम्नातः सम्भूयाभिमुख्येनाम्नातोऽभ्यस्तः। ग्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः।**

अर्थात्—यह निघण्टु समाम्नाय प्राचीन आचार्यों ने एकत्र किया था।

रोथ का पूर्वपक्ष

यास्कीय निरुक्त के प्रथम सम्पादक जर्मनदेशोत्पन्न रोथ पण्डित ने अपने निरुक्त की भूमिका में लिखा था—

Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of Yaska's learning, his authorship of one, *Nighantu*........ must be denied and the only wonder is that this was not sooner recognised.

अर्थात्—यद्यपि भारतीय वाङ्मय के इतिहास में यह निर्विवाद है कि यास्क ने ही निरुक्त और निघण्टु बनाए, तथापि यास्क ने निघण्टु बनाया, यह नहीं माना जा सकता।

इस से आगे वह उन प्रमाणों में से कुछ प्रमाण देता है, जो दुर्ग ने दिए हैं।

सत्यव्रत सामश्रमी का पूर्वपक्ष

सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन में लिखा है कि यास्क निघण्टु कर्ता नहीं है। सत्यव्रत के प्रमाण भी प्रायः वही हैं, जो दुर्ग के हैं।

दूसरे पूर्वपक्षी

प्रो० कर्मकर का भी यही मत है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क की कृति नहीं है।[1] दुर्ग की युक्तियां दे कर वे अपनी बात को सिद्ध करने के लिए कई और हेतु देते हैं। उन हेतुओं में से दो नीचे लिखे जाते हैं—

1—The authorship of Nighanter, Proceedings and transactions of the first Oriental Conference Poona, 1922, pp, 62--67,

अर्थात्—निघण्टु आदि निरुक्तान्तर्गत ही हैं। यह जो पञ्चाध्यायी निघण्टु है, यह भगवान् यास्क रचित ही है।

यास्केनैव कृतः लिखने से पता लगता है कि मधुसूदन दुर्गादि के पूर्वपक्ष का ध्यान करके ही बल देने के लिए **एव** शब्द का प्रयोग करता है।

३—मधुसूदन से बहुत पहले होने वाला वेङ्कटमाधव ऋ० ७।८७।४॥ की व्याख्या में लिखता है—

तत्रैकविंशतिर्नामानि काचिद् गौर्बिभर्तीतिपृथिवीमाह। तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि।

अर्थात्—पृथिवी-वाची गोशब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं।

यास्कपठित कहने का यही अभिप्राय है कि गौ के ये २१ नाम यास्क ने अपने निघण्टु में पढ़े हैं। अर्थात् यह निघण्टु यास्क प्रणीत ही है।

इससे निश्चित होता है कि जो परम्परा इन पूर्वोक्त आचार्यों को विदित थी, तदनुसार यास्क ही इस निघण्टु का कर्ता था। यह परम्परा दुर्ग को भी ज्ञात थी, इसी लिए उसने इसके खण्डन करने का यत्न किया। अब दुर्गोपस्थापित प्रधान हेतुओं की परीक्षा होती है।

दुर्ग निरुक्त ४।१८॥ के भाष्य में लिखता है कि—

निघण्टु में **दावने। अकूपारस्य।** इस क्रम से दो पद पढ़े गए हैं। इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम है उसमें इन पदों का क्रम **अकूपारस्य दावने** ऋ० ५।३६।२॥ है। एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता, अतः निघण्टु का कर्ता कोई और होगा।

अब विचारने का स्थान है कि दुर्गानुसार जिस ऋषि या जिन ऋषियों ने यह निघण्टु बनाया था, क्या उन्हें निगमान्तर्गत क्रम का पता नहीं था। यास्क की अपेक्षा वे वेदों के अधिक पण्डित थे। जो आक्षेप दुर्ग ने यास्क पर किया है, वह उनके सम्बन्ध में अधिक बल से किया जा सकता है। यदि पदों का क्रम-विपर्यास भूल ही है, तो प्राचीन ऋषियों की अधिक भूल है। देखो निघण्टु में जो **अकूपारस्य** पद पढ़ा गया है, वह ऋग्वेद में एक ही स्थान पर आता है। वह मन्त्र है ऋ० ५।३६।२॥ **अकूपारस्य** के व्याख्यान

में इस मन्त्र के सिवा कोई और मन्त्र पढ़ा ही नहीं जा सकता। यास्क का अभिप्राय अकूपारस्य के निर्वचन से ही है। अतः उसने यही मन्त्र पढ़कर इस पद का निर्वचन दिखा दिया।

दावने पद ऋग्वेद में २५ से भी अधिक वार आया है। यास्क उसका अर्थमात्र देता है। प्रतीत होता है कि किसी प्राचीन निघण्टु में ये दोनों पद उसी क्रम से पढ़े गए थे, जैसा इस निघण्टु में है। उस निघण्टु के कर्ता ने अपने निरुक्त में **दावने** पद के व्याख्यान में कोई और निगम पढ़ा होगा। परन्तु यास्क ने निघण्टु का क्रम तो उसी से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा।

यदि कोई कहे कि उन आदि ऋषियों के ध्यान में जिन्होंने यह निघण्टु बनाया था ऋग्वेद की किसी शाखा का ऐसा मन्त्र था, जिसमें पदों का क्रम **दावने अकूपारस्य** होगा, तो यह भी नहीं बनता। यास्क के पास निश्चय ही वह सब सामग्री थी, जो शाखा-प्रवर्तक ऋषियों के पास थी। यास्क जब **दशतयीषु** शब्द का प्रयोग निरुक्त में करता है, तो इसका यही अभिप्राय है कि वह ऋग्वेद की दशमण्डलात्मक सारी ही शाखाओं से परिचित था।

यास्कीय निघण्टु में सूचित् । ४।११॥ तथा **वाजपस्त्यम् । वाजगन्ध्यम्** ४।२॥ आदि जो पद हैं और इनका यास्कपठित ऋ० ६।३०।३॥ तथा ऋ० ६।६८।१२॥ निरुक्तस्थ निगमों से जो क्रमविपर्यास है, उसका भी ऐसा ही समाधान समझना चाहिए। वस्तुतः यास्क के मन में क्रम की इतनी प्रधानता नहीं थी, जितनी दुर्ग को अभीष्ट है।

दुर्ग की भ्रान्ति का कारण

दुर्ग की भ्रान्ति का कारण निरुक्त १।२०॥ का निम्नलिखित पाठ है—

उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ।

इसका अर्थ करते हुए दुर्ग लिखता है—

इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नातवन्तः ।

अर्थात्—इस ग्रन्थ का जिसमें **गौ** से लेकर **देवपत्न्यः** तक शब्द हैं, समाम्नान किया।

ऐसा व्याख्यान करते हुए दुर्ग एक बात भूल जाता है। निरुक्त के वचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने निघण्टु बनाया, उन्हीं ऋषियों ने निरुक्तादि वेदाङ्गों का भी समाम्नान किया। अतः उस आदि निघण्टु पर निरुक्त भी बन चुका था। पुनः यास्क को उसका व्याख्यान करने से क्या लाभ। ऐसी अवस्था में **समाम्नायः समाम्नातः स व्याख्यातव्यः** वचन का दुर्गोक्त अर्थ भी सङ्गत नहीं होता। वह समाम्नाय तो व्याख्यान हो चुका था, पुनः उसके व्याख्यान करने का क्या प्रयोजन।

निरुक्त १।२०॥ का सत्यार्थ

वस्तुतः निरुक्त १।२०॥ में **इमं ग्रन्थं** का अभिप्राय निघण्टु सामान्य से है। अर्थात् इमं ग्रन्थं का द्योतक निघण्टु शब्द यहां जातिवाची है। और क्योंकि बहुत से निघण्टु **गौ** शब्द से आरम्भ हो कर देवपत्न्यः तक समाप्त होते थे, अतः किसी पुराने व्याख्यान में **इमं ग्रन्थं** का **गवादिदेवपत्न्यन्तं** अर्थ देखकर दुर्ग को भ्रम हो गया कि बस इसका अभिप्राय इसी निघण्टु से है। निरुक्त ४।१८॥ की वृत्ति में दुर्ग स्वयं लिखता है कि शाकपूणि के निघण्टु का आरम्भ भी **गौ** शब्द से था। सम्भव है उसके अन्त में **देवपत्न्यः** पद ही हो। इसी प्रकार अन्य निघण्टु ग्रन्थों की वार्ता भी होगी।

प्राचीन आचार्यों के निघण्टु

इस विषय पर पूर्व पृ० १६२–१६५ तक यद्यपि पर्याप्त लिखा जा चुका है परन्तु दुर्ग के अपने शब्दों में कुछ और लिखना निष्प्रयोजन न होगा।

१—निरुक्त के **तमिमं समाम्नायं** की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

तं च यो ऽसमाम्नातश्छन्दस्येवावस्थितो ऽगवादिरन्यैर्वा निरुक्तैः समाम्नातस्तमिमं च निघण्टव इत्याचक्षतेऽन्येऽप्याचार्या इति वाक्यशेषः।

अर्थात्—**तं** शब्द का एक यह भी अभिप्राय है कि जो निघण्टु दूसरे नैरुक्तों ने एकत्र किया।

अब तनिक विचारिए कि यदि दूसरे नैरुक्त निघण्टु बना सकते थे, और हम भी इस समय ब्राह्मणों की सहायता से नए निघण्टु बना सकते हैं, तो क्या

यास्क एक निघण्टु नहीं बना सकता था ।[1] नहीं, नहीं, स्वप्न में भी ऐसा विचार करना हेय है, हां अतिहेय है ।

२—निरुक्त ३ । १३ ॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

अन्ये पुनः............एतानि पूर्वाचार्यप्रामाण्याद्दामिश्राणि पठ्यन्त इत्येवं मन्यन्ते ।

अर्थात्—निघण्टु ३ । ११ ॥ में जो कुछ नाम और कुछ आख्यात एकत्र पढ़े गए हैं, वह पूर्व आचार्यों के प्रमाण से पढ़े गए हैं,[2] ऐसा कई निरुक्त-व्याख्याकार मानते हैं ।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं ।

दुर्ग से पुराने निरुक्त व्याख्याकारों के इस वचन से, जो भाग्यवश दुर्ग ने उद्धृत किया है, यह निश्चित हो जाता है कि इस निघण्टु से पहले कई आचार्य और निघण्टु बना चुके थे । उन्हीं की शैली देखकर इस निघण्टु के बनाने वाले ने भी नाम और आख्यात एक ही गण में एकत्र पढ़ दिए ।

जब इस निघण्टु से पहले दूसरे निघण्टु बन चुके थे, तो निस्सन्देह यह निघण्टु प्राचीन ऋषियों की कृति न रहा । यदि यह उन्हीं प्राचीन ऋषियों की कृति होता कि जिनका निरुक्त १ । २० ॥ में उल्लेख है, तो निश्चय ही इसके विषय में यह न लिखा जाता कि इस निघण्टु में पूर्वाचार्यों के प्रमाण से नाम और आख्यात एकत्र पढ़े गए हैं ।

३—फिर **तान्यप्येके समामनन्ति** ७ । १३ ॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

एके नैरुक्तास्तान्यपि गुणपदानि वृत्रांहोमुक्प्रभृतीनि अग्न्यादौ देवतापदसमाम्नाये पृथक्पृथक्समामनन्ति ।

अर्थात्—कई एक नैरुक्त उन गुणपदों को भी अग्नि आदि के साथ देवतापदसमाम्नाय या निघण्टु के दैवतकाण्ड में पृथक् पृथक् एकत्र करते हैं ।

१—तुलना करो, इस इतिहास का भाग दूसरा, पृ० १३३—१३६ ।

२—दावने । अकूपारस्य । के सम्बन्ध में हमने भी यही लिखा है कि यह क्रम यास्क ने पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए रखा है । देखो पृ० १८७ ।

इससे भी स्पष्ट विज्ञात होता है कि नैरुक्त लोग अपना अपना निघण्टु आप बनाते थे। फिर नैरुक्त यास्क ने प्रस्तुत निघण्टु बनाकर उसी पर अपना निरुक्त रचा, ऐसा मानने में क्या दोष।

अब देखिए सत्यव्रत आदि के लेख को। मधुसूदनसरस्वती को निरर्थक ही 'भ्रान्तिवादी वेदान्ति' लिखने वाला सत्यव्रत लिखता है—

महाभारतीये मोक्षधर्मपर्वणि 'शिपिविष्ट'-नामनिर्वचनप्रसङ्गे ये त्रयः श्लोकाः (३४२ अ० ६६, ७०, ७१ श्लो०) दृश्यन्ते, तैश्च ज्ञायते यास्ककृतमेवैतन्निरुक्तम्। ....

अस्त्येव ह्यत्र निघण्टुभाष्ये शिपिविष्ट-निवचनेश्च द्विविधम्।[1] **तत्रैव किञ्चिदुत्तरं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां (३४२ अ० ८६, ८७ श्लो०) निघण्टुकर्तृनाम च प्रकटितम्। तथा हि –**

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत।
निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम्।
कपिर्वराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते।
तस्माद् वृषाकपिं प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः। इति

अस्त्येव ह्यत्र निघण्टौ दैवतकाण्डे द्युस्थानदेवताख्यानेषु वृषाकपिरिति।

अर्थात्—सत्यव्रत का सारा बल इसी बात पर है कि महाभारतानुसार निघण्टु के पदों के आख्यान में कश्यप प्रजापति ने वृषाकपि शब्द पढ़ा है। और क्योंकि प्रस्तुत निघण्टु के दैवतकाण्ड में वृषाकपि शब्द पढ़ा हुआ मिलता है अतः यह निघण्टु प्रजापति कश्यप प्रणीत है।

हम अभी लिख चुके हैं कि निघण्टु ग्रन्थ अनेक थे। क्या यह निश्चय से कहा जा सकता है, कि इस निघण्टु के सिवा **वृषाकपि** शब्द और किसी निघण्टु के दैवतकाण्ड में नहीं पढ़ा गया होगा। नहीं, कदापि नहीं। निरुक्त ५।७॥ में उद्धृत औपमन्यव के वचन से पता लगता है कि औपमन्यव के अथवा उससे भी पुराने किसी निघण्टु में **शिपिविष्ट। विष्णु।** यह दो

---

1 — निरुक्त १२।२६,२७॥

विष्णु के नाम पढ़े गए थे। यदि यह दो नाम इतने पुराने निघण्टु में पढ़े जा सकते हैं, तो वृषाकपि नाम भी पढ़ा जा सकता है। इससे यही निश्चय होता है कि प्रजापति-कश्यप ने इसे अपने निघण्टु में पढ़ा होगा, और दूसरे निघण्टुकार भी इसे अपने निघण्टुओं में पढ़ते होंगे। इतने लेखमात्र से यह निर्णय नहीं हो सकता कि प्रस्तुत निघण्टु प्रजापति-कश्यप प्रणीत है।

प्रो॰ कर्मकर का तीसरा हेतु निम्नलिखित है—

निघण्टु २।१६॥ में तळित् के दो अर्थ दिए हैं। यास्क उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता हुआ प्रतीत होता है। यदि वह निघण्टु का भी बनाने वाला होता तो तळित् का यथार्थ न लिखता।

निघण्टु २।१९॥ के ३३ वधकर्मा धातुओं में **वियातः। आखण्डल। तळित्।** ये तीन नाम पढ़े गए हैं। कौत्सव्य के निरुक्त-निघण्टु में भी हिंसा वाची ३१ पदों में **आखण्डल** और **तडित्** दो नाम पढ़े गए हैं। कौत्सव्य **तडित्** को अन्तिक नामों में भी पढ़ता है। प्रतीत होता है, प्राचीन परिपाटी के अनुसार ही यास्क ने भी ये नाम वधकर्मा धातुओं में पढ़ लिए हैं। इनके वहां पढ़ने का अभिप्राय इनके धात्वर्थ की ओर निर्देश करने का है। यास्क निरुक्त ३।१०॥ में इस बात का विशेष ध्यान रखकर कहता है—

ताळयतीति सतः।

अर्थात्—ताडन करने से ही तडित् नाम है। अतः तळित् का अन्तिक-नाम गौण है। विद्युत् अर्थ में भी ताडन कर्म पाया जाता है। यास्क ने वधकर्मा धातुओं में ताल्हि आख्यात पढ़कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। जिस धातु से तळित् बनता है, उसी से ताल्हि बनता है। अतः धातुओं में नाम पढ़ कर उसके यौगिक रूप का विशेष दिखाना ही प्रयोजन है।

प्रो॰ कर्मकर का चौथा हेतु हास्यजनक है। वे लिखते हैं कि निघण्टु में व्याप्तिकर्मा सात धातु पढ़े गए हैं। उन में दो नाम हैं। निघण्टुकार ने इन्हें भी भूल से धातु ही समझा था, और यास्क ने उस भूल को दूर किया है।

इसका अभिप्राय तो यह है कि निघण्टुकार बड़ा ही मूर्ख था। वह इतना भी नहीं जान सका कि नाम और आख्यात में क्या भेद है। यह निघण्टु-

कार की अच्छी स्तुति है। क्या यास्क को भाष्य करने के लिए ऐसे ही निकृष्ट निघण्टुकार का ग्रन्थ मिला था।

इन नामों के धातुओं में पढ़ने का भी वस्तुतः वही प्रयोजन है, जो पहले कहा गया है।

सत्यव्रतसामश्रमी के दिए हुए महाभारत के श्लोकों से यह निर्णय करना कठिन है कि प्रजापति कश्यप ने ही प्रस्तुत निघण्टु बनाया, ऐसा पूर्व विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है। इस के खण्डन से पं० राजाराम और प्रो० सिद्धेश्वर वर्मा के विचारों का भी खण्डन जानना चाहिए।

निघण्टु के यास्क-प्रणीत होने में यास्क का प्रमाण

यदि यास्क स्वयं कह दे कि यह निघण्टु मेरी कृति है, तो इस से बढ़ के इस विषय का निर्णायक और कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। भाग्यवश यास्क ने इस विषय में अपना लेख किया है। इस लेख की उपस्थिति में दुर्ग, रोथ, सत्यव्रत, राजाराम और कर्मकर आदि के लेख बहुत कम मूल्यवान् हैं, नहीं, उनका कोई मूल्य रहता ही नहीं। देखिए यास्क क्या लिखता है—

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने। इन्द्राय वृत्रतुरे। इन्द्रायांहोमुचे। इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। यत्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत्समामने। अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति वृत्रहा। पुरन्दरः। इति। तान्यप्येके समामनन्ति। भूयांसि तु समाम्नानात्। ७।१३॥

अर्थात्—कई नैरुक्त विशेषणों सहित इन्द्र आदि देवता पदों का समाम्नान करते हैं। परन्तु फिर भी उन के समाम्नान करने से अनेक विशेषण बच जाते हैं। परन्तु जो प्रधान स्तुतिवाला (अग्नि आदि) देवता-नाम है, उस का मैं समाम्नान करता हूं। कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता-नाम निघण्टु में एकत्र पढ़ते हैं। यथा वृत्रहा इत्यादि। परन्तु वे भी सब का समाम्नान नहीं कर सके।

इसी वचन के व्याख्यान में दुर्ग लिखता है कि—

अहं तु न समामने।

मैं उन आचार्यों जैसा समाम्नाय नहीं बनाता। यास्क ने जैसा निरुक्त में

लिखा है, वस्तुतः वैसा ही उसका यह निघण्टु है। यास्क के इस लेख से बढ़ के इस विषय में अन्य किसी का प्रमाण नहीं हो सकता। वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि यह समाम्नाय उसका अपना बनाया हुआ है।

अब रही बात प्रो० बेलवेल्कर की। प्रो० महोदय का मत है कि निघण्टु के चतुर्थाध्याय में जो पद पढ़े गए हैं, वे अज्ञात या संदिग्ध अर्थ और व्युत्पत्ति वाले हैं। संदिग्ध अर्थ वाले मानकर ही किसी वा किन्हीं प्राचीन आचार्य वा आचार्यों ने ये पद एकत्र किए थे।

निघण्टु के चतुर्थकाण्ड का क्या स्वरूप है, इस विषय में यास्क निरुक्त १।२०॥ में स्वयं लिखता है—

एतावतामर्थानामिदमभिधानम्

अर्थात्—चतुर्थकाण्ड में अनेकार्थवाची एक-एक पद पढ़ा गया है।

फिर निरुक्त चतुर्थाध्याय के आरम्भ में जहां से उन पदों का भाष्य आरम्भ होता है, वह लिखता है—

अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमांस्तदैकपदिकमित्याचक्षते।

अर्थात्—अब जो अनेक अर्थों वाले एक एक शब्द हैं, उन का यथाक्रम व्याख्यान करेंगे। और अनवगत संस्कार वाले निगम भी पढ़ेंगे। इस को ऐकपदिक कहते हैं।

इसी निरुक्त-वचन की वृत्ति के अन्त में दुर्ग लिखता है—

अनेन नाम्नान्येऽप्याचार्या 'आचक्षते'।

अर्थात्—इस काण्ड का ऐकपदिक नाम पहले आचार्यों को भी अभिमत था।

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहले निघण्टुकार भी अपने अपने ग्रन्थों में यह ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे, और अपने अपने निरुक्तों में उस का यही नाम रखते थे। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उन प्राचीन आचार्यों के निघण्टु ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पढ़े जाते थे, या भिन्न भिन्न पद होते थे? हमारा विचार है कि प्रत्येक निरुक्तकार अपनी दृष्टि से

अनवगतसंस्कार वाले निगमस्थ पदों को पढ़ता था। इसका प्रमाण भी है।

श्वात्रम् को यास्क निघण्टु २।१०॥ में **धननामों** में पढ़ता है। पुनः वह इसी शब्द को निघण्टु ४।२॥ में पढ़ता है। इसकी व्याख्या निरुक्त ५।३॥ में है। वहां यास्क **श्वात्रम् इति क्षिप्रनाम** यह किसी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण देता है। इससे ज्ञात होता है कि **श्वात्रम्** का धननाम पढ़कर भी यास्क के हृदय में यह बात अङ्कित थी कि जैसा प्राचीन नैरुक्त पढ़ चुके हैं, इस पद का क्षिप्रार्थ भी है। अतः उसने अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए यह पद चतुर्थाध्याय में दोबारा पढ़ा।

प्राचीन नैरुक्तों ने अपने ऐकपदिक काण्डों में ये सब शब्द नहीं पढ़े थे, जिन्हें यास्क पढ़ता है। इस निघण्टु ४।२॥ में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़े गए हैं। इनमें से विष्णु तो पहले भी निघण्टु ३।१७॥ में यज्ञ नामों में पढ़ा गया है, परन्तु शिपिविष्ट पद अन्यत्र नहीं पढ़ा गया। यास्क निरुक्त ५।७॥ में बताता है कि किसी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पढ़े थे। सम्भवतः वह आचार्य औपमन्यव था। इससे हम जान सकते हैं कि यद्यपि शिपिविष्ट का अर्थ भी यास्क से पहले ज्ञात था, परन्तु व्युत्पत्ति आदि के दर्शाने के लिए यास्क ने इसका ऐकपदिक में पाठ कर लिया। इस ऐकपदिक काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पढ़े गए हैं, जिनका कि यास्क से पहले नैरुक्तों को निश्चित अर्थ प्रतीत था वा थे। अतः प्रो० बेलवेल्कर का यह अनुमान कि ऐकपदिक काण्ड के सब पद संदिग्धार्थ आदि जानकर किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने एकत्र कर दिए, मान्य नहीं। ये पद तो यास्क ने अपनी दृष्टि से एकत्र किए हैं। वह इनका अनेकार्थ और निर्वचन अपने मत में दिखाना चाहता था। बस इतना ही उसका अभिप्राय है।

पूर्वोक्त सारे प्रसङ्ग को आद्यन्त पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क-प्रणीत है।

निघण्टु का स्वरूप

इस निघण्टु में पांच अध्याय और तीन काण्ड हैं। पहले तीन नैघण्टुक काण्ड, चौथा नैगमकाण्ड और पांचवां दैवतकाण्ड कहाते हैं। इस समय तक

जितने भी निघण्टु मुद्रित हो चुके हैं, उनमें से डा० स्वरूप का संस्करण सर्वोत्तम है। उस संस्करण के देखने से पता लगता है कि इस निघण्टु के दो पाठ हो चुके हैं, एक है लघुपाठ और दूसरा बृहत्।

यह निघण्टु निरुक्तान्तर्गत ही है। दुर्ग और स्कन्द आदि के भाष्यों में निरुक्त के प्रथमाध्याय को षष्ठाध्याय कहा गया है। वे निघण्टु के प्रथम पांच अध्यायों से आरम्भ कर के आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यही प्रतीत होता है कि निघण्टु भी निरुक्त कहलाता था। और प्रत्येक निरुक्तकार इसे रच कर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था।

यास्कीय निरुक्त

अब हम यास्कीय निरुक्त का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। इस निरुक्त के १२ अध्याय हैं। आजकल परिशिष्ट रूप में दो अध्याय और मिलते हैं, परन्तु पूर्व काल में इन परिशिष्टों का अधिकांश बारहवें अध्याय के अन्तर्गत ही था। नीचे ऐसे कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं, जिन से निर्णय हो सकता है कि ये अध्याय नवीन नहीं हैं—

१—सायण अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के अन्त में लिखता है—

पञ्चाध्यायरूपकाण्डत्रयात्मके एतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्षतया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं च समाम्नायः समाम्नात इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवत्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे।

अर्थात्—इस पञ्चाध्यायी निघण्टु को भी निरुक्त कहते हैं। और उस का व्याख्यान **समाम्नायः समाम्नातः** से आरम्भ करके **तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति, अनुभवति** १२ अध्याय तक यास्क ने बनाया।

इस वचन से एक तो यह प्रतीत होता है कि सायण निघण्टु को भी यास्ककृत मानता है। दूसरे यह भी जाना जाता है कि सायणानुसार निरुक्त की समाप्ति **तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति, अनुभवति** पर होती है। यह पाठ आजकल के निरुक्तों के अनुसार १३।१३॥ है, परन्तु सायण के पाठ में यह बारहवें अध्याय के अन्तर्गत ही था।

ताण्ड्यब्राह्मण ४।८।३॥ के भाष्य में सायण लिखता है—

तथा च यास्कः । शुक्रातिरेके पुमान् भवति । शोणितातिरेके स्त्री भवति । द्वाभ्यां समेन नपुंसको भवति ।

यह पाठ निरुक्त १४।६॥ में मिलता है । अर्थात् यह पाठ उस पाठ से आगे है, जहां पर कि सायण निरुक्त की समाप्ति मानता है । ताण्ड्य भाष्य में सायण ने इसे यास्क के नाम से पढ़ा है । इससे अनुमान होता है कि निरुक्त के परिशिष्ट का जो चौदहवां अध्याय है, वह भी सायण के समय में विद्यमान था ।

२—यजुर्वेद १८।७७॥ के भाष्य में उवट लिखता है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वेत्युपक्रम्य भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति चाभिधायाह तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवतीति । अतोऽयमर्थो यो ग्रन्थ इति विद्वद्भिरादरणीयः ।[1]

उवट ने जो पाठ यहां उद्धृत किया है, यह निरुक्त १३।१२॥ में मिलता है । इस से ज्ञात होता है कि निरुक्त का तेरहवां अध्याय उवट के समय में विद्यमान था ।

३—वररुचि अपने निरुक्त समुच्चय के आरम्भ में लिखता है—

निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्याः । मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति । शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति च ।

यां यां देवतां वचन निरुक्त १३।१३॥ में मिलता है । सायण भी निरुक्त की समाप्ति यहीं मानता है । परन्तु वररुचि के मत में एक बात विचारणीय है । **योऽर्थज्ञ** मन्त्र निरुक्त की प्रथम पंक्ति नहीं । निरुक्त के आरम्भ में तो यह अवश्य है । क्या इसी प्रकार **ताद्भाव्यमनुभवति** निरुक्त के अन्त में होते हुए भी निरुक्त की अन्तिम पंक्ति नहीं । यह देखना चाहिए ।

४—स्कन्द-महेश्वर निरुक्त १।२०॥ के भाष्य में **यां यां देवतां**

१—यह सारा पाठ हमने मुम्बई, बनारस, और अपने कोश से शोध कर दिया है । मुम्बई और बनारस के संस्करण में यह पाठ बड़ा अशुद्ध छपा है ।

निरुक्त १३।१३॥ को उद्धृत करता है। स्कन्द-महेश्वर का भाष्य निरुक्त १३।१३॥ तक है।

५—संवत् ६३० के समीप का उद्गीथ ऋ० १०।७१।५॥ के भाष्य में **यां यां देवतां** निरुक्त १३।१३॥ को उद्धृत करता है।

६—उद्गीथ से बहुत पहले होने वाला दुर्गाचार्य लिखता है—

विद्यापारप्राप्त्युपायोपदेशो मन्त्रार्थनिर्वचनद्वारेण। देवताभिधाननिर्वचनफलं देवताताद्भाव्यमित्येष समासतो निरुक्तशास्त्रचिन्ताविषयः।[1]

वक्ष्यति हि—यां यां देवतां निराहः।[2]

वक्ष्यति हि—'क ईषते तुज्यते कः' इति।[3]

वक्ष्यति हि—स एष महानात्मा सत्त्वलक्षणः……।[4]

उदाहरिष्यति च—'अथैतं महान्तमात्मानं' अधिकृत्य 'क ईषते तुज्यते' इति।[5]

इन पांच स्थानों में से पहले स्थान पर निरुक्त १३।१२-१३॥ को, दूसरे स्थान पर निरुक्त १३।१३॥ को, तीसरे स्थान पर पुनः निरुक्त १३।१३॥ को, चौथे स्थान पर निरुक्त १४।३॥ को और पांचवें स्थान पर निरुक्त १४।१॥ और १४।२६॥ को दुर्ग उद्धृत करता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि दुर्ग के अनुसार निरुक्त की समाप्ति निरुक्त **यां यां** १३।१३॥ पर ही होती है। परन्तु उसने निरुक्त १४।२६॥ तक को यास्क की कृति माना है। सम्भव है, आजकल के परिशिष्ट के ये भाग दुर्ग के काल में **यां यां** से पहले हों। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दुर्ग निरुक्त के परिशिष्टों के अधिकांश को यास्क का बनाया हुआ ही मानता है। **वक्ष्यति**

१—निरुक्तभाष्य १।४॥

२—निरुक्तभाष्य १।२०॥

३—निरुक्तभाष्य ३।२१॥

४—निरुक्तभाष्य ७।४॥

५—निरुक्तभाष्य १०।२३॥

हि लिखने से उसका अभिप्राय यही है कि उसकी दृष्टि में सब अध्यायों का कर्ता एक ही आचार्य है।

६—दुर्गादि से भी बहुत पुराना बृहद्देवताकार बृहद्देवता के अष्टमाध्याय म लिखता है—

न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम् ॥ १२९ ॥

यह वचन निरुक्त १३।१२॥ के आधार पर लिखा गया है। निरुक्त का वचन निम्नलिखित है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा

बृहद्देवता के अनेक वचन निरुक्त के आधार पर लिखे गए हैं। उन सबको बृहद्देवता के सम्पादक परलोकगत प्रो० मैकडानल ने एकत्र किया है।[१] परन्तु मैकडानल की सूची में पूर्वोक्त स्थल का निर्देश नहीं है।

निरुक्त के तेरहवें अध्याय के वचन जब इतने पुराने ग्रन्थों में मिलते हैं, तो इस अध्याय को नया समझना बड़ी भूल है। यह अध्याय यास्क-कृत है, इसमें कोई सन्देह नहीं। चौदहवां अध्याय भी दुर्ग के काल से बहुत पहले का होगा। अतः डा० स्वरूप का निम्नलिखित लेख विश्वास योग्य नहीं—

The commentary of Durga, written before the addition of the parisistas.

अर्थात्—दुर्गभाष्य परिशिष्टों के मिलाए जाने से पहले लिखा गया था।

दुर्ग तो स्वयं परिशिष्टों को उद्धृत करता है। निघण्टुभाष्य बारह अध्यायों में ही समाप्त होता है, अतः दुर्ग लिखता है—

इयं च तस्या द्वादशाध्यायी भाष्यविस्तरः।[२]

परन्तु इससे आगे अतिस्तुतियां हैं। वे या तो पहले बारहवें के अन्त में होंगी या आरम्भ से ही परिशिष्ट रूप से जोड़ी गई होंगी।

परिशिष्टगत अतिस्तुतियां प्राचीन निरुक्तों का भी अङ्ग थीं

यास्क ने ही ये अतिस्तुतियां नहीं पढ़ीं। उससे पहले आचार्य भी

१—बृहद्देवता पृ० १३६—१४५

२—निरुक्तभाष्य १।१॥

निरुक्त की समाप्ति पर इन्हें पढ़ते थे। इसीलिए यास्क लिखता है—

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते।[1]

इस पर दुर्ग लिखता है—

अन्येऽप्याचार्या एवमेवैता आचक्षते कथयन्ति।

अर्थात्—दूसरे आचार्य भी इन्हें अतिस्तुतियां कहते हैं।

स्कन्द-महेश्वर अध्याय १३ के भाष्यारम्भ में लिखता है—

यथा प्रतिज्ञातं समाम्नायो व्याख्यातः। इदानीं पूर्वाचार्याणां मतानुवृत्तितत्परतया अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते।

अर्थात्—पूर्वाचार्यों के मत का अनुकरण करके ये अतिस्तुतियां पढ़ी जाती हैं।

इससे आगे यास्क लिखता है—

सोऽग्निमेव प्रथममाह

इस पर दुर्ग की वृत्ति है—

स इति स्तोता असावाचार्यः 'अग्निमेव' अधिकृत्य प्रथममाह।

सः के अर्थ में स्कन्द-महेश्वर ने लिखा है—

सोऽतिस्तोता पूर्वाचार्यो वा

हम इस का यही अर्थ समझते हैं कि अतिस्तुतियों में पहले आचार्य भी **अग्नि** को प्रथम पढ़ते थे, अतः यास्क ने भी ऐसा ही किया।

यास्कोद्धृत ग्रन्थकार

उन बारह नैरुक्तों के सिवा जिन का वर्णन पहले हो चुका है, यास्क शाकटायन, कौत्स, शाकल्य, और शाकपूणिपुत्र का भी स्मरण करता है। इन के अतिरिक्त वह अनेक वैदिक ऋषियों के नाम भी लेता है।

आर्चाभ्याम्नाय

आदित्य शब्द पर भाष्य करते हुए निरुक्त २।१३॥ में यास्क लिखता है-

अदितेः पुत्र इति वा। अल्पप्रयोगं त्वस्य। एतदार्चाभ्याम्नाये सूक्तभाक्।

१—निरुक्त १३।१॥

यहां जो **आर्चाभ्याम्नाय** शब्द है, उस का अर्थ करने में पण्डित लोग बड़ी क्लिष्ट कल्पना करते हैं। उन का अर्थ है भी असत्य, अतः इस का सत्यार्थ लिखा जाता है।

दुर्ग की भूल

अपनी वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

आर्चाभ्याम्नाये। ऋचो यस्मिन्नाम्नाये अभि उपर्युपर्याम्नाताः सोऽयमार्चाभ्याम्नायो दाशतयः।

इस से प्रतीत होता है कि दुर्ग के अनुसार इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद है।

स्कन्द-महेश्वर की भूल

स्कन्द अपनी निरुक्त-टीका में लिखता है—

आर्चाभ्याम्नाये। ऋचां समूह आर्चम्। अभ्याम्नायत इत्यभ्याम्नायः। ऋच एव यजुषा ब्राह्मणेन चामिश्रा[1] आम्नायन्ते आभिमुख्येन यस्मिन्नसावार्चाभ्याम्नायः। तस्मिन् ऋग्वेद इत्यर्थः। अन्ये ऋचाभ्याम्नाय इति पठन्ति।

अर्थात्—स्कन्द का भी विचार है कि इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद ही है। परन्तु सारे ऋग्वेद में ऐसा एक भी सूक्त नहीं जिस सारे का देवता आदित्य हो। निरुक्त के दुर्ग से प्राचीन भाष्यकार मानते थे कि आर्चाभ्याम्नाय में एक सम्पूर्ण सूक्त ऐसा है जिस का देवता आदित्य है। दुर्ग ने पहले शब्द का अशुद्ध अर्थ समझ लिया, और पुनः उन का खण्डन किया जो सारे सूक्त का आदित्य देवता मानते थे। वह लिखता है—

अन्ये तु मन्यन्ते। आदित्य इत्येतद्देवाल्पप्रयोगम् इति तत्र त्वेतद्विरुद्ध्यते सूक्तभागिति।

जब दुर्ग ने एक वार निश्चय कर लिया कि इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद है, तो उसने देखना आरम्भ किया कि क्या ऋग्वेद में कोई ऐसा सूक्त है जिसका देवता आदित्य हो। जब उसे ऐसा सूक्त न मिला तो उसने तत्सम्बन्धी निरुक्त के सारे पाठ का अर्थ बदला। और प्राचीनों के व्याख्यान के विरुद्ध लिखा,

---

१—डा० स्वरूप **च मिश्रा** पढ़ते हैं।

जिन्होंने प्रतीत होता है सरल समझ कर इस शब्द का अर्थ छोड़ दिया होगा। अब प्रश्न होता है कि इस शब्द का सत्यार्थ क्या है?

आर्चाभ्याम्नाय एक शाखा है

एक वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ, जब मैं निरुक्त के इस पाठ का वार-वार विचार करता था। एक रात्रि मैंने काशिका के चतुर्थाध्याय के तीसरे पाद का पाठ किया। सूत्र १०४ की वृत्ति पढ़कर मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। मैंने पहले भी कई वार यह पाठ पढ़ा था, परन्तु यह बात कभी सूझी न थी। काशिका में लिखा है—

आलम्बिश्चरकः प्राचां पलङ्ककमलावुभौ ।
ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे ॥

आलम्बिनः। पालङ्गिनः। कामलिनः। आर्चाभिनः। आरुणिनः। ताण्डिनः।

अर्थात्— ऋचाभेन प्रोक्तमधीयते आर्चाभिनः। तेषामाम्नायः आर्चाभ्याम्नायः। ऋचाभप्रोक्त संहिता आदि के पढ़ने वाले आर्चाभिन, उनका आम्नाय आर्चाभ्याम्नाय। उस आर्चाभ्याम्नाय में आदित्य देवता का एक सम्पूर्ण सूक्त था।

प्रतीत होता है कि आर्चाभ्याम्नाय या आर्चाभियों की संहिता दुर्ग और स्कन्द को नहीं मिल सकी, अतः उन्होंने एक क्लिष्ट कल्पना की। दुर्ग का अनुकरण करने वाले पं० राजाराम, पं० रामप्रपन्न, पं० सीताराम, डा० स्वरूप आदि ने भी यहां भूल की। दुर्ग का अर्थ तो अत्यन्त हास्यजनक है। 'ऋचाएं जिसमें ऊपर-ऊपर एकत्र हों, वह आर्चाभ्याम्नाय।' यहां **अभि** का ऊपर-ऊपर अर्थ बहुत भद्दा है।

इस बात के जानने के अगले ही दिन मैंने सारी वार्ता पं० राजाराम पं० चारुदेव आदि को सुनाई। उन्होंने अत्यन्त हर्षित होकर कहा, कि वस्तुतः यही इस शब्द का सच्चा अर्थ है।

यास्कोद्धृत अन्य ग्रन्थ

आर्चाभ्याम्नाय के सिवा यास्क निरुक्त १०।५॥ में काठकम् और हारिद्रविकम् को उद्धृत करता है। ऋग्वेद के लिए वह **दशतयीषु** शब्द का प्रयोग करता है। इसका अर्थ है 'ऋग्वेद की सारी ही शाखाओं में।' इनके अतिरिक्त जिन वैदिक ग्रन्थों के प्रमाण यास्क ने दिए हैं, उनमें से अनेकों के

नाम डा० स्वरूप ने अपनी सूचियों में एकत्र कर दिए हैं।[1]

निरुक्त में प्राचीन ग्रन्थों के अन्वेषण योग्य प्रमाण

निरुक्त में कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो दूसरे ग्रन्थों के प्रतीत होते हैं, परन्तु उन के विषय में हमसे पहले लेखकों ने ऐसा सन्देह नहीं किया। कदाचित् उनके मूल-स्थानों का पता लग जाए, इस अभिप्राय से वे नीचे दिए जाते हैं—

प्रथनात्पृथिवीत्याहुः। १।१३॥

तृतीयमृच्छतेत्यूचुः। ३।१७॥

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः।

......................पूर्वमासीदुरुञ्जिरा॥

निश्चय ही किसी या किन्हीं प्राचीन अनुक्रमणियों के ये पाठ हैं। वे अनुक्रमणियां श्लोकबद्ध होंगी क्योंकि ये वचन भी श्लोकों का ही भागमात्र हैं।

यास्कीय निरुक्त के दो पाठ

जो निरुक्त सम्प्रति मिलता है, निघण्टु के समान वह भी दो पाठों में विभक्त हो चुका है। उनमें से एक है बृहत्पाठ और दूसरा है लघु। दुर्ग की वृत्ति प्रायः लघुपाठ पर ही है। अध्यापक राजवाड़े दुर्गवृत्ति के संस्करण की भूमिका में लघुपाठ को गुर्जरपाठ और बृहत्पाठ को महाराष्ट्रपाठ कहता है। उसका लेख निम्नलिखित है—

गुर्जरपाठो महाराष्ट्रपाठाद्विश्वसनीयो दुर्गाचार्येण प्रायः स्वीकृतश्च। गुर्जरपाठस्य खण्डविभागो महारष्ट्रपाठस्य खण्ड-विभागाद्भिन्नः।

अर्थात्—गुर्जरपाठ महाराष्ट्रपाठ की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है। दुर्गाचार्य भी प्रायः इसी को स्वीकार करता है। गुर्जरपाठ का खण्डविभाग भी महाराष्ट्रपाठ के खण्डविभाग से भिन्न है।

निरुक्त के ये दोनों पाठ कब से बने, यह कहना अभी कठिन है। निरुक्त के भावी संस्करणों में मालाबार के कोशों की सहायता भी लेनी चाहिए।

१—निरुक्त पृ० १४७—२६०।

तब इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना होगी।

बृहद्देवताकार के ध्यान में निरुक्त का लघुपाठ ही होगा। वह बृहद्देवता अध्याय २ में लिखता है—

रुद्रेण सोमः पूष्णा च पुनः पूषा च वायुना ॥ ४ ॥

बृहद्देवता के इस श्लोकार्ध का कोई विशेष पाठान्तर भी नहीं है। बृहद्देवता का यह पाठ निरुक्त के लघुपाठ के आधार पर लिखा गया है—

पूष्णा रुद्रेण च सोमः। वायुना च पूषा ७।१०॥

निरुक्त का बृहत्पाठ निम्नलिखित है—

पूष्णा रुद्रेण च सोमः। अग्निना च पूषा।

बृहद्देवता में वायुना पाठ के मिलने से यही प्रतीत होता है कि बृहद्देवताकार के मन में लघुपाठ का ध्यान था। अध्यापक मैकडानल ने इस बात का संकेत अपनी टिप्पणी में किया है—

In associating Vayu (not Agni) with Pusan the BD. here agrees with the shorter recension of the Nirukta.

निरुक्त में वेदार्थ के पक्ष

वेदार्थ करने के जितने पक्षों का निरुक्त में उल्लेख है वे नीचे लिखे जाते हैं—

अधिदैवतम्

अध्यात्मम्

आख्यानसमयः

ऐतिहासिकाः

नैदानाः

नैरुक्ताः

परिव्राजकाः

पूर्वे याज्ञिकाः

याज्ञिकाः

इनके सिवा एके, अपरे और आचार्याः कहकर भी कई मत दिए गए हैं, परन्तु वे नैरुक्तों के अन्तर्गत हो सकते हैं।

इन्हीं पद्यों को देखकर निरुक्त ७।२॥ के भाष्य में स्कन्द—महेश्वर लिखते हैं—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्राः योजनीयाः। कुतः। स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थं वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।

अर्थात्—नैरुक्त, ऐतिहासिक आदि सब दर्शनों में सब मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए। भाष्यकार यास्क स्वयं ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

यास्क-रचित अन्य ग्रन्थ

रुद्राध्याय के भाष्य में भट्टभास्कर मिश्र लिखता है—

नमस्काराद्येकं यजुर्नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्कः।

यास्क का यह मत इस निरुक्त में नहीं मिलता। सम्भवतः यह मत यास्क की सर्वानुक्रमणी में मिलेगा। उस सर्वानुक्रमणी का पता हमारे मित्र डा० कुह्नन् राज ने लगाया है। वह सर्वानुक्रमणी निदानसूत्रान्तर्गत छन्दो-विचिति के भाष्यकार पेट्टाशास्त्री अपरनाम हृषीकेश ने बहुधा उद्धृत की है। उसने उस सर्वानुक्रमणी के १८ प्रमाण दिए हैं। उनसे निश्चित होता है कि यह सर्वानुक्रमणी तैत्तिरीय संहिता की थी। यास्क का रुद्र सम्बन्धी मत भी यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है, अतः वह इसी सर्वानुक्रमणी में होगा।

क्या निरुक्त और सर्वानुक्रमणी का कर्ता एक ही यास्क है

प्रश्न होता है कि क्या निरुक्त और सर्वानुक्रमणी दोनों का कर्ता एक ही यास्क है। हमारा विचार है कि हां, एक ही यास्क है। बृहद्देवता में यास्क का नाम लेकर १६ वार उसका मत दिया गया है। वह मत बहुधा इस निरुक्त में नहीं मिलता। परन्तु कुछ स्थानों पर ठीक मिल भी जाता है। अतः यदि यास्क दो होते, तो बृहद्देवताकार दोनों को पृथक्-पृथक् बताने के लिए कोई विशेषण अवश्य देता। बृहद्देवताकारोद्धृत यास्क का जो मत इस निरुक्त में नहीं मिलता, वह सर्वानुक्रमणी में अवश्य मिलेगा और यास्क का बृहद्देवता में बताया हुआ जो मत इस निरुक्त से कुछ विरुद्ध है, वह शाखा-भेद के कारण हो सकता है। निरुक्त में ऋग्वेद को मुख्य मानकर सब कुछ लिखा गया है और तैत्तिरीयों के

प्रकरण में देवता आदि का भेद हो सकता है। यास्क की सर्वानुक्रमणी और बृहद्देवता में यास्क के मत आदि की विशेष विवेचना अध्यापक राज के लेख में देखनी चाहिए।[1]

यास्क को उद्धृत करने वाले प्राचीन ग्रन्थकार

१—पिङ्गलनाग अपने छन्दःशास्त्र में लिखता है—

उरोबृहतीति यास्कस्य। ३। ३०॥

अर्थात्—न्यङ्कुसारिणी को ही यास्क उरोबृहती कहता है।

सर्वानुक्रमणीकार यास्क लिखता है—

द्वितीयश्चेत् स्कन्धोग्रीवी क्रौष्टुकेः।
उरोबृहती वा स्यात्।[2]

इस से ज्ञात होता है कि पिङ्गल ने यास्क की सर्वानुक्रमणी को ध्यान में रखकर पूर्वोद्धृत सूत्र रचा होगा।

यास्क की सर्वानुक्रमणी में गद्य भाग के श्लोक भी होंगे। डा० राज ने दो श्लोक भी दिए हैं।

कात्यायन की सर्वानुक्रमणी के समान यास्क की सर्वानुक्रमणी में भी पहले छन्दों का वर्णन होगा।

उवट जब यास्क के छन्दःशास्त्र का वर्णन करता है, तो उस का अभिप्राय इसी सर्वानुक्रमणी के पूर्व भाग से होगा।[3]

२—शौनक अपने ऋक्प्रातिशाख्य में लिखता है—

न दाशतय्येकपदा काचिदस्तीति वै यास्कः। सूत्र ९९३।

अर्थात्—ऋग्वेद में कोई एकपदा ऋक् नहीं, ऐसा यास्क मानता है। यास्क ने यह बात अपनी सर्वानुक्रमणी के पूर्वभाग में लिखी होगी।

दूसरी ओर अपनी सर्वानुक्रमणी में यास्क शौनक का स्मरण करता है—

द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाक्षराश्च जगती ज्योतिष्मती।
सापि त्रिष्टुबिति शौनकः।

१—यास्क की तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी, अंग्रेजी में लेख।

२—डा० राज का नवम प्रमाण, पृ० २१६।

३—देखो इस इतिहास का दूसरा भाग, पृ० २४०।

इस से हमारा पूर्व विचार कि शौनक, यास्क आदि समकालीन थे, और भी पक्का होता है।[1]

यास्क रचित कल्प

हारलता पृष्ठ ८ पर लिखा है —

कल्प इति ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठानपद्धतिर्यास्क-वाराह-बौधायनीयाद्याः ।

इन सब प्रमाणों से पता लगता है कि यास्क-प्रणीत ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१—निघण्टु

२—निरुक्त

३—याजुष-सर्वानुक्रमणी

४—कल्प

आशा है कि यत्न करने पर सर्वानुक्रमणी और कल्प मिल सकेंगे।

यास्क का काल

महाभाष्य से पहले के वाङ्मय के इतिहास के पता लगाने का अभी तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है। श्रौतसूत्रों के अनेक भाष्य हैं, जो इस काल से पहले के होंगे। आश्वलायन श्रौत का देवस्वामी भाष्य, कात्यायन श्रौत का भर्तृयज्ञ और पितृभूति-भाष्य, मीमांसा पर देवस्वामी का भाष्य, और उपवर्ष-भाष्य, वेदान्त सूत्रों पर टङ्क और द्रमिड के भाष्य इत्यादि ग्रन्थों का काल निश्चय करने के लिए अभी तक अणुमात्र भी प्रयास नहीं हुआ। इन में से कई ग्रन्थ बुद्ध के काल से भी पहले के ठहरेंगे।

अभी अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि भर्तृहरि की मीमांसा वृत्ति के कुछ भाग मिले हैं। वे शबर से पहले के हैं। हम ने यह वृत्ति अभी देखी नहीं। यदि कवि महाशय का निर्णय ठीक है, तो भर्तृहरि बड़ा प्राचीन ग्रन्थकार होगा।[2] वह भर्तृहरि अपने महाभाष्य के व्याख्यान में एक

१—इस इतिहास का दूसरा भाग, पृ० २३६—२५२।

२ -भर्तृहरि के सम्बन्ध में चीनी यात्री इत्सिङ्ग के लेख पर हमें आरम्भ से ही सन्देह है। देखो इस इतिहास का दूसरा भाग, पृ० २५९।

आश्वलायन श्रौतभाष्यकार को उद्धृत करता है। वह श्रौतभाष्यकार बहुत प्राचीन होगा। श्रौतसूत्रों के भाष्यकारों के काल का निर्णय हम इस इतिहास के अगले भागों में करेंगे। इस प्रसङ्ग में इतना लिखने का यही प्रयोजन है कि प्राचीन ग्रन्थकारों का काल जानने के लिए अभी बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। योरुप के अध्यापकों ने शीघ्रता में जो कुछ लिख दिया है, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः यास्क आदि के काल के विषय में भी हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते। हमारा विश्वास है कि महाभारत के लगभग तीन शताब्दी के अन्दर ही यास्क हुआ होगा।

महाभारत में यास्क का वर्णन।

सब से पहले सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने निरुक्तालोचन में महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।
शिपिविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम्॥७२॥
स्तुत्वा मां शिपिविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।
मत्प्रसादादधोनष्टं निरुक्तमभिजग्मिवान्॥७३॥[1]

अर्थात्—यास्क ने मेरी कृपा से निरुक्त प्राप्त किया।

यह सत्य है कि महाभारत में बहुत प्रक्षेप हुआ है, परन्तु जिस स्थान पर महाभारत में यास्क का उल्लेख है, उस से आगे ही गालव का वर्णन भी मिलता है। इस प्रसंग के नवीन होने का कोई कारण नहीं, अतः यास्क बहुत पुराना व्यक्ति ही है।

१—शान्तिपर्व अध्याय ३४२।

सप्तम अध्याय

निघण्टु के भाष्यकार

क्षीरस्वामी (संवत् ११८५-१२११)

देवराजयज्वा अपने निघण्टु-निर्वचन की भूमिका में लिखता है—

इदं च..........क्षीरस्वामि-अनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टु-व्याख्यां...निरीक्ष्य क्रियते।

अर्थात्—यह निर्वचन क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्य आदि कृत निघण्टु व्याख्या को देखकर किया जाता है।

अपने निर्वचन के प्रसङ्ग में देवराज ३२ बार क्षीरस्वामी की व्याख्या को उद्धृत करता है। क्या यह व्याख्या यास्कीय निघण्टु पर थी अथवा देवराज का अभिप्राय क्षीरस्वामी के अमरकोशोद्घाटन से है? यह प्रश्न बड़ा विचारणीय है, अतः आगे इस पर विचार किया जाता है—

देवराज	क्षीर अमर-व्याख्या
१—पृथुना राज्ञा अवतारिता पृथ्वी १।१॥	पृथुनावतारिता वा पृथ्वी २।१।३॥
२—वियच्छति न विरमति १।३॥	वियच्छति विरमति १।२।२॥
३—पुष्कं वारि राति पुष्करम्। १।३॥	पुष्कं वारि राति पुष्करम्। १।२।१॥
४—साध्यन्त आराध्यन्ते साध्याः १।५॥	साध्यन्त आराध्यन्त इति १।१।१०॥
५—आ अश्नुवते आशाः।१।६॥	अश्नुते आशाः १।२।२॥
६—ककुभ्नाति विस्तारयतीति ककुप् १।३॥	कं स्कुभ्नाति विस्तारयति ककुप १।२।२॥

७—हरन्त्याभिः । १।६॥	हरन्त्यनया हरित् । ३।२।२॥
८—क्षप्यते सूर्यचारेण क्षपा । १।७॥	क्षप्यते क्षपा । १।३।४॥
९— उनत्त्यूधः । १।७॥	उनत्त्यूधः । २।६।७३॥
१०-सुष्ठु आह्वयति स्वाहा । १।११॥	सुष्ठु आहूयते स्वाहा । २।७।२१॥
११-शच श्वच गतौ ।१।११॥	शच श्वच गतौ १।१।४२॥
१२—शब्दनं शब्दः ।१।११॥	नास्ति
१३-अपि प्लवते इति नैरुक्ताः। १।१२॥	अपि प्लवते इति नैरुक्ताः । २।४।२०॥[1]
१४—तुदति तोयम् । १।१२॥	तुदति तौति वा तोयम् । १।३।४॥

अगले १८ प्रमाणों में से केवल एक और है जिस का पता अमर टीका म नहीं लग सका। अतः कुल दो ऐसे प्रमाण हैं, जो देवराज ने क्षीर के नाम से उद्धृत किए हैं और जिन का पता अमर टीका में नहीं मिलता। अमरटीका और देवराज का निर्वचन जिस बुरे प्रकार से छपे हैं उन्हें देखकर हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह दोनों प्रमाण अमरटीका में नहीं होंगे, अथवा इन का वही रूप है जो सत्यव्रत के देवराज के निर्वचन के संस्करण में मिलता है।

एक और भी बात है, जिस से क्षीरस्वामी के निघण्टुभाष्य के मिलने का सन्देह होता है।

देवराज अपने निर्वचन की भूमिका में लिखता है—

एवं व्याकीर्णेषु कोशेषु नियमैकभूतस्य प्रतिपदनिर्वचन-निगमप्रदर्शनपरस्य कस्यचिद् व्याख्यानस्याभावान् नैघण्टुकं काण्ड-मुत्सन्नप्रायमासीत्।

अर्थात्—प्रत्येक पद का निर्वचन और निगमप्रदेशन जिस भाष्य में हो,

---

१—अपप्लव इति नैरुक्ताः । यह ओक सम्पादित पाठ है। हम ने मूल में त्रिवन्द्रम मुद्रित पाठ दिया है।

ऐसे किसी भी व्याख्यान के अभाव से निघण्टु का नैघण्टुक काण्ड उत्सन्न-प्राय था।

इस से यही ज्ञात होता है कि देवराज के पास क्षीर का वैदिक-निघण्टु भाष्य-नहीं था। उस के पास तो उस की अमरकोश व्याख्या ही थी। अतः क्षीरकृत अमरकोशोद्घाटन के सम्पादक ओक महाशय का यह विचार कि क्षीर रचित छः वृत्तियों[1] में वैदिक निघण्टु वृत्ति भी एक थी,[2] सत्य प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार डा० स्वरूप का मत—

Of the commentaries on the *Nighantu* both the works mentioned by Devaraja have unfortunately been lost.[3]

कि निघण्टु पर क्षीर की वृत्ति नष्ट हो चुकी है, ठीक नहीं। अधिक सम्भव यही है कि क्षीर ने कोई निघण्टुवृत्ति नहीं रची। अनन्ताचार्य की व्याख्या भी किसी और कोश पर होगी। देवराज के भाष्य में वह एक वार भी उद्धृत नहीं मिलता।

१—देवराज यज्वा (सं० १३७० के निकट)

देवराज के पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य और पितामह का नाम देवराज-यज्वा था। गोत्र उस का अत्रि था। वह रङ्गेशपुरी-पर्यन्त ग्राम का रहने वाला था। समग्र वैदिक निघण्टु का भाष्य रचने वाला वही एक व्यक्ति प्रतीत होता है।

काल

डा० कुह्नन् राज का मत है कि देवराज सायण का उत्तरवर्ती है। वे लिखते हैं[4]—

Devaraja is later than Sayana , perhaps he is a very recent author .

१—**षड्वृत्तयः कल्पिताः** देखो अमरवृत्ति और धातुवृत्ति के मङ्गल श्लोक।

२—देखो अमरवृत्ति के मङ्गल श्लोकों की टिप्पणी।

३—डा० स्वरूप कृत निरुक्त की सूचियां भूमिका पृ० १८।

4—Proceedings Fifth Oriental Conference Vol. I p. 227

इस बात का खण्डन इसी भाग के पृ० २६–२८ तक हम कर चुके हैं। वहां विस्तृत रूप से दिखाया गया है कि देवराज सायण के ऋग्भाष्य की एक पंक्ति भी उद्धृत नहीं करता। इस के विपरीत मैक्समूलर[1] और डा०स्वरूप[2] ने दिखाया है कि सायण ऋग्भाष्य १।६२।३॥ में **निघण्टुभाष्य** से एक प्रमाण देता है। वह प्रमाण देवराज के निघण्टुभाष्य में स्वल्प पाठान्तर से मिलता है। हम अभी यह भी बता चुके हैं कि देवराज के निघण्टुभाष्य के सिवा और कोई वैदिक-निघण्टु-भाष्य था भी नहीं। सायण का अभिप्राय किसी वैदिक-निघण्टु-भाष्य से ही है। वह है देवराज का एकमात्र भाष्य। अतः निस्सन्देह सायण देवराज के ग्रन्थ का ही प्रमाण देता है।

डा० स्वरूप ने अपने निरुक्त की भूमिका में विस्तृत रूप से बताया है कि देवराज भोज, देव, उस की वृत्ति पुरुषकार, पदमञ्जरी और भरतस्वामी को उद्धृत करता है। भरतस्वामी का काल संवत् १३६० के समीप का है। अतः देवराज का काल सं० १३७० से पहले का नहीं है। देवराज को सायण उद्धृत करता है। सायण ने अपने ग्रन्थ सं० १४०० में लिखने आरम्भ कर दिए होंगे। इसलिए देवराज सं० १३७० के समीप ही हुआ होगा।

देवराज के निघण्टु-निर्वचन का जो कोश हमारे पुस्तकालय में है, वह ४०० वर्ष से कम पुराना नहीं है। उस के लेख आदि से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ का इतना पुराना हस्तलेख अन्यत्र मेरे देखने में नहीं आया। इस से भी निश्चित होता है कि देवराज इतना नूतन ग्रन्थकार नहीं है जितना कि डा० राज इसे मानते हैं।

निघण्टु-निर्वचन

देवराज अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार नैघण्टुककाण्ड का निर्वचन ही अधिक विस्तार से करता है। उसके ग्रन्थ का मूलाधार आचार्य स्कन्दस्वामी का ऋग्वेद-भाष्य और स्कन्द महेश्वर की निरुक्त भाष्य-टीका है। अनेक स्थानों पर स्कन्द का नाम लिए विना ही वह उसकी पंक्तियों पर पंक्तियां उद्धृत करता जाता है यथा—

1—Max Muller's 2nd ed. of Rigveda with Sayana's com. IV. CXXXIII.

२—निरुक्त भूमिका, पृ० २६।

१—**अम्बर** १।३।१॥ के व्याख्यान में स्कन्द-निरुक्त-भाष्य-टीका ३।१०॥ की कई पंक्तियां विना स्कन्द का नाम स्मरण किए उद्धृत की गई हैं।

२—अध्वर ३।१७।३॥ के व्याख्यान में स्कन्द-ऋग्वेद-भाष्य १।१।४॥ की कई पंक्तियां विना स्कन्द का नाम लिए उद्धृत की गई हैं—

३—काकुद ४।२।७६॥ के व्याख्यान में निरुक्त भाष्य-टीका ५।२६॥ की कई पंक्तियां उद्धृत हैं। इत्यादि—

उणादि वृत्ति अथवा वृत्ति कहकर जिस ग्रन्थ से प्रमाण दिए गए हैं, वह दशपादि उणादि की वृत्ति है।[1] उसके कर्ता का नाम हमें पता नहीं लग सका। वह कभी काशी में मुद्रित हुई थी।

देवराज ने जो माधवीय **अनुक्रमणियां** उद्धृत की हैं उनमें से नाम और आख्यात की दो अनुक्रमणियां डा० राज ने प्राप्त कर ली हैं।

देवराज १।६।१५॥ के निर्वचन में किसी **अष्टादशाध्याय** को उद्धृत करता है। क्या यह निरुक्त का तेरहवां अध्याय है? आजकल के निरुक्त के प्रथम परिशिष्ट में वह प्रमाण नहीं मिलता, जिसे देवराज लिखता है।

२।१६।३॥ के निर्वचन में देवराज लिखता है—

स्कन्दस्वामिव्यतिरिक्तभाष्यकारमते

यह कौन आचार्य है, यह विचारना चाहिए।

देवराज के निर्वचन में स्वतन्त्ररूप से बहुत कम लिखा गया है। इसमें पुरातन प्रमाणों का संग्रह अत्यधिक है।

१—१।१२।२३॥ २।२।२६॥ २।७।२०॥ इत्यादि।

अष्टम अध्याय

निरुक्त के भाष्यकार

१—निरुक्त वार्तिक (विक्रम की छठी शताब्दी से पहले)

निरुक्त पर पातञ्जल महाभाष्य से भी पहले व्याख्यान होने आरम्भ हो गए थे। अष्टाध्यायी ४।३।६६॥ के महाभाष्य में पतञ्जलि लिखता है—

शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसृततरा गतिर्भवति। निरुक्तं व्याख्यायते। व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते। न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति।

अर्थात्—शब्दग्रन्थों में ही व्याख्या प्रवृत्त होती है। निरुक्त का व्याख्यान होता है। व्याकरण का व्याख्यान होता है। कोई नहीं कहता कि पाटलिपुत्र का व्याख्यान होता है।

इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अष्टाध्यायी पर संग्रह आदि व्याख्यान पतञ्जलि से पहले बन चुके थे, वैसे ही निरुक्त पर भी कोई व्याख्यान हो चुके थे।

निरुक्त वार्तिक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। सुरेश्वर के बृहदारण्यक वार्तिक के समान यह भी बड़ा बृहद्ग्रन्थ होगा। निरुक्त स्वयं एक भाष्य है। उस भाष्य पर यह वार्तिक था। इसके प्रमाण दुर्ग ने अपनी वृत्ति में दिए हैं—

१—अपि चोक्तं वार्तिककारेण—

यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयस्थस्तावद्भिर्गुणविग्रहः।[1]

२—गतार्थं मन्यमानो भाष्यकारो निगमं न ब्रवीति। वार्तिककारेणाप्युक्तम्—

१—यह श्लोक बृहद्देवता मे भी है।२।१०२॥ निरुक्तवृत्ति १।१॥

निगमवशाद्बह्वर्थं भवति पदं तद्धितस्तथा धातुः ।

उपसर्गगुणनिपाता मन्त्रगताः सर्वथा लक्ष्याः ॥[1]

३—तदुक्तं वार्तिककारेण—

क्रमप्रयोजनं नाम्नां शाकपूण्युपलक्षितम् ।

प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत् ॥[2]

४—उक्तं च वार्तिके—

मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान्सर्वश्च मध्यमः ।

गणाश्च सर्वे मरुतो गणभेदाः पृथक्कृतेः ॥[3]

क्या बृहद्देवता यही वार्तिक है

इन चार प्रमाणों में से पहला और चौथा बृहद्देवता में मिलते हैं। पहला ठीक वैसा ही बृहद्देवता में है। चौथा बृहद्देवता में कुछ पाठान्तर से है। दूसरे प्रमाण पर राजवाड़े की टिप्पणी निम्नलिखित है—

अयं श्लोको बृहद्देवतायां नोपलभ्यते ।

बृहद्देवताकारान्नान्यो वार्तिककारः ।

अर्थात्—यह श्लोक बृहद्देवता में नहीं है, परन्तु बृहद्देवता के सिवा और कोई वार्तिक भी नहीं।

तीसरे प्रमाण पर राजवाड़े अपनी टिप्पणी में लिखता है—

अयं श्लोकोऽधुनोपलभ्यबृहद्देवतायां न विद्यते ।

अर्थात्—यह श्लोक उपलब्ध बृहद्देवता में नहीं है।

चौथे प्रमाण के विषय में राजवाड़े अपनी टिप्पणी में लिखता है।

दुर्गकाले बृहद्देवताग्रन्थे भिन्नाः पाठा आसन् । अधिकाश्च श्लोकाः । च. ट. पुस्तकयोः—

सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान्वायुश्च सर्वगः ।

गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम् ॥

१—निरुक्तवृत्ति ६।३१॥

२—निरुक्तवृत्ति ८।४॥

३—निरुक्तवृत्ति११।१३॥ बृहद्देवता ५।४६॥

इति पाठान्तरं प्रान्ते दीयते ।

यह पाठान्तर वाला श्लोक स्कन्द—महेश्वर ११।१३॥ पर मिलता है। उसकी टिप्पणी में डा० स्वरूप ने भी लिखा है कि यह बृहद्देवता के ही पाठान्तर हैं।

निरुक्त वार्तिक एक पृथक् ग्रन्थ था

हमारा विचार है कि बृहद्देवता का नाम वार्तिक नहीं है। वार्तिक एक सर्वथा पृथक् ग्रन्थ था। उसके प्रमाण अन्यत्र भी मिलते हैं। मण्डनमिश्र ने स्फोटसिद्धि नाम का ग्रन्थ लिखा है। उस पर गोपालिका नाम की एक टीका है। उस टीका में लिखा है—

यथोक्तं निरुक्तवार्तिक एव—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि ।
उपदेशेन संप्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥ इति ॥१॥

उपदेशश्च वेदव्याख्या । यथोक्तम्—

अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि ।
व्याख्यैवात्रोपदेशस् स्याद्वेदार्थस्य विवक्षितः ॥ इति ॥२॥

उपदेशाय ग्लायन्त इति । उपदेशेन ग्राहयितुमशक्या इत्यर्थः । अपरे द्वितीयेभ्यो न्यूना इति । बिलमग्रहणाय उपायतो वशीकरणाय । इमं ग्रन्थं वक्ष्यमाणं समाम्नासिषुः समाम्नातवन्त-स्तमेवाह वेदं च वेदाङ्गानि चेति । अङ्गशब्द उपाङ्गादेरप्युपलक्षणार्थः । वेदमुपदेशमात्राद्ग्रहीतुमशक्ता वेदं समाम्नासिषुः । वेदार्थं चोपदेशेन ग्रहीतुमशक्ता अङ्गानि च समाम्नासिषुरिति । यथोक्तम्—

अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा ।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः ॥ इति ॥३॥

बिलमशब्दो ह्यनन्तरमेव । तत्र निरुक्तं—बिलमं भिलमं भासनमिति । व्याख्यातं च —

बिलमं भिलममिति त्वाह बिभर्त्यर्थविवक्षया ।

उपायो हि बिभर्त्यर्थमुपेयं वेदगोचरम् ॥४॥
अथवा भासनं बिल्मं भासतेर्दीप्तिकर्मणः ।
अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम् ॥५॥

.........यथोक्तम्–

प्रथमाः प्रतिभानेन द्वितीयास्तूपदेशतः ।
अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे ॥६॥

इस सारे प्रकरण में गोपालिका टीका का कर्ता छः श्लोक उद्धृत करता है। ये छः श्लोक निरुक्त वार्तिक के हैं। उस ने इन के आरम्भ में स्पष्ट लिख भी दिया है कि ये निरुक्त वार्तिक में हैं। यह सब श्लोक **साक्षात्कृतधर्माणः** ......निरुक्त १।२०॥ के व्याख्यान में लिखे गए हैं। निरुक्त के इस वचन का जितना स्पष्ट अर्थ यहां दिखाया गया है, उतना दुर्ग और स्कन्द के ग्रन्थों में भी नहीं है। आश्चर्य की बात है कि दयानन्दसरस्वती ने भी इस निरुक्त-वचन का लगभग ऐसा ही अर्थ अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्त में किया है।

इस लेख को यदि दुर्ग के पूर्वोद्धृत चार प्रमाणों से मिलाया जाए, तो ज्ञात होता है कि दुर्ग भी उसी प्राचीन निरुक्त-वार्तिक के प्रमाण दे रहा है। अत: अध्यापक राजवाड़े का मत कि बृहद्देवता ही वार्तिक है, सत्य नहीं। फिर वार्तिक के नाम से उद्धृत किए गए श्लोक बृहद्देवता में क्यों मिलते हैं?

बृहद्देवता और निरुक्त-वार्तिक के श्लोकों की समानता

हम लिख चुके हैं कि दुर्ग ने वार्तिक के नाम से जो श्लोक दिए हैं, उनमें से दो बृहद्देवता में मिलते हैं। इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वार्तिककार ने ये श्लोक बृहद्देवता से लिए, या यह हो सकता है कि बृहद्देवता ने वार्तिक से ये श्लोक लिए। इनमें से दूसरे श्लोक का बृहद्देवता के श्लोक से कुछ पाठान्तर भी है। सम्भव है एक ग्रन्थकार ने दूसरे को देख कर इसे अपने अभिप्राय के अनुकूल लिखा हो। किस ग्रन्थकार ने दूसरे का आश्रय लिया, अथवा दोनों में से कौन पहले और पीछे है, इसका अभी निर्णय नहीं हो सकता। विशेष सामग्री के अभाव में इस विषय के सब अनुमान निरर्थक होंगे। हां, इतना हम लिख देना चाहते हैं कि बृहद्देवता के पहले और दूसरे

अध्याय के कई श्लोक वार्तिक में अधिक उचित प्रतीत होंगे। यथा—२।१००—१०६॥

यत्न किए जाने पर इस ग्रन्थ का मिलना भी असम्भव नहीं है ?

२—बर्बरस्वामी

स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्तभाष्यटीका में लिखता है—

तस्य पूर्वटीकाकारैर्बर्बरस्वामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य...[1]

अर्थात्—इस निरुक्त भाष्य की पूर्वटीकाकार बर्बरस्वामी और भगवद् दुर्ग आदि बड़े विस्तार से व्याख्या कर चुके हैं।

स्कन्द के इस वचन के **स्वामी** पद पर पाठान्तर भी है। वह है **व्याख्यास्यामि** या **व्याख्यास्वामि**। बर्बर का तो व्याख्यापद पाठान्तर हो नहीं सकता। सम्भव है कोई तीसरा नाम और हो, जो बर्बर और दुर्ग के मध्य में हो। अस्तु, इतना तो सुनिश्चितरूप से पता लगता है कि बर्बरस्वामी ने निरुक्त पर एक बड़ी विस्तृत टीका लिखी थी। क्या यही वार्तिककार तो नहीं था।

३—दुर्ग (संवत् ६५० विक्रम से पूर्व)

अब हम एक ऐसे वृत्तिकार का उल्लेख करेंगे, जिसका ग्रन्थ कि हमें उपलब्ध है, जो वैदिक विद्वानों में एक ऊंचा स्थान रखता है और जिसका काल भी पर्याप्त पुराना है।

दुर्ग-स्मृत प्राचीन निरुक्तभाष्यटीकाकार

दुर्ग स्वयमेव पहला टीकाकार नहीं है। उससे पहले अनेक टीकाकार हो चुके थे। हम लिख चुके हैं कि वार्तिककार भी उससे पहले हो चुका था। उन्हीं सारे टीकाकारों की सहायता से दुर्ग ने अपनी सुन्दर वृत्ति लिखी। दुर्ग उन्हें **अन्ये, अपरे, एके** और **केचित्** लिखकर स्मरण करता है।[2] कई स्थानों

1—निरुक्तटीका १।१॥ पृ० ४।

2—राजवाड़े का संस्करण, पृ० १३, १६, २७, ६६, १००, १०४, १०५, २४५, २५२, ३१७, ४८१, ६६७ इत्यादि।

पर इन शब्दों के साथ **व्याचक्षते**[1] लिखकर वह स्पष्ट दिखाता है कि यह पूर्व टीकाकारों की व्याख्या है।

दुर्ग के काल में निरुक्त के पाठान्तर

ऋ० १।८६।१॥ के **असन्** पद पर वृत्ति करते हुए दुर्ग लिखता है—

असन्। स्युरित्यर्थः। भाष्येऽपि स्युः इत्येष एव पाठः। असन् इत्येष प्रमादपाठः। ४।१६॥

अर्थात्—यास्क ने **असन्** का **स्युः** अर्थ किया है। यास्क-भाष्य का पाठ असन् नहीं। यह प्रमाद से लिखा गया है।

पुनः १।१२॥ की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—

अथवा संविज्ञानानि तानि। संविज्ञातानि तानि वेत्युभावप्येतौ पाठौ। तस्मादुभयथापि व्याख्यातव्यम्।१।१२॥

अर्थात्—दोनों प्रकार का ही पाठ हो सकता है। यास्क का वास्तविक पाठ कौन सा था, यह दुर्ग को भी ज्ञात नहीं हुआ।

इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं।

दुर्गोद्धृत ग्रन्थ वा प्रमाण

दुर्ग ने अपनी वृत्ति में कई ऐसे श्लोक उद्धृत किए हैं, जो ज्ञात ग्रन्थों के नहीं हैं। वे कहां से लिए गए हैं, यह जानने का प्रयास करना चाहिए—

१—उक्तं च—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥[2]

यह श्लोक अनेक वेदभाष्यों में उद्धृत है। क्या यह वार्तिक का श्लोक है।

२—तथा चोक्तम्—

ऋषयोऽप्युपदेशस्य नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥[3]

१—पृ० ७१, ४८१।

२—पृ० ७।

३—पृ० १२।

यह श्लोक शाबर-भाष्य आदि में भी उद्धृत है।

३—अपि चोक्तम्—

क्रियावाचकमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते।
त्रीनत्र पुरुषान् विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते॥[1]

यह कहां का प्रमाण है, इसका पता नहीं लग सका।

४—तद्यथा—

प्रेत्यादिकर्मोपदीर्णभृशार्थेषु-इत्यभिधाने।[2]

यह किस कोश का वचन है, यह जानना चाहिए।

५—नैगमकाण्ड के पदों की व्याख्या कैसी होनी चाहिए, इस विषय में दुर्ग लिखता है। तदुच्यते—

तत्त्वं पर्यायशब्देन व्युत्पत्तिश्च द्वयोरपि।
निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे॥[3]

स्कन्द ने भी ४।१॥ के आरम्भ में यही श्लोक उद्धृत किया है। वह लिखता है कि यह पूर्वाचार्य प्रदर्शित है।

यह निरुक्तवार्तिक का पाठ प्रतीत होता है।

६—कौत्स के पक्ष के खण्डन के अन्त में निरुक्त १।१६॥ की समाप्ति पर दुर्ग लिखता है—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावुदिते च कारणे।
अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्थता तदर्थमेतत्खलु शास्त्रमर्थवत्॥

क्या यह श्लोक दुर्ग का अपना बनाया हुआ है।

इसी प्रकार २।१०॥ के अन्त में भी एक श्लोक है।

७—निरुक्त ६।१४॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

विकारपक्षेषु तदर्थान्यधातूपादानम्-इत्याचार्यपरिभाषा।

यह परिभाषा यास्क ने कहां लिखी है, यह चिन्तनीय है।

१—पृ० १४।

२—पृ० ३३।

३—पृ० २६२

८—शौनक की छन्दोनुक्रमणी[1], उस की दूसरी अनुक्रमणियां[2], और बृहद्देवता, यह ग्रन्थ बहुधा उद्धृत हैं। बृहद्देवता के श्लोक अनेक वार विना ग्रन्थ नाम-निर्देश ही लिखे गए हैं।[3]

९—गौड[4], पुराण[5], रामायण[6], गोभिलगृह्यसूत्र[7], और महाभारतादि[8] भी उद्धृत मिलते हैं।

१०—मीमांसासूत्रों का प्रमाण अनेक वार दिया गया है।

११—६।३१॥ की वृत्ति में न्याय वात्स्यायन भाष्य १।२।६॥ में आया हुआ एक श्लोक उद्धृत है।

१२—मनु भी कई स्थलों पर उद्धृत है।

१३—वेद और ब्राह्मणादि अनेक ग्रन्थों के साथ मैत्रायणीय संहिता का बहुधा प्रमाण दिया गया है।[9]

ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा का प्रमाण

१४—११।१६॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है।

ऋभोश्च बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन बहूनि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति। तद्यथा—

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त—इति

यह मन्त्र **दशतयी** अर्थात् ऋग्वेद की किसी शाखा का है। इस समय यह तैत्तिरीय संहिता ३।१९॥ में मिलता है।

१—पृ० ३६२।

२—पृ० ५२०।

३—पृ० ३०१।

४—पृ० ५१०।

५—पृ० ४४६।

६—पृ० ३५३।

७—पृ० २७४।

८—पृ० २१९।

९—पृ० १६१, २८२, ४४५ इत्यादि।

एक और निगम

१५—अध्यात्मवाद का परम प्रदर्शक एक निगम दुर्ग १२।२६॥ की वृत्ति में पढ़ता है। यास्क के मूल में इस की प्रतीकमात्र है—

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्।

स चेत्तमुद्धरेदङ्ग न मृत्युर्नामृतं भवेत्॥

इस निगम का पूर्वार्ध अथर्व ११।४।२१॥ है।

यह किस वैदिक ग्रन्थ का प्रमाण है, यह देखना चाहिए।

सांख्य का प्राचीन सूत्र

१६—७।३॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

सांख्यास्तु प्रधानं तमः शब्देनोपादानमुख्यमानमिच्छन्ति। ते हि पारमर्षं सूत्रमधीयते—

तम एव खल्विदमग्र आसीत्। तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमो ऽध्यवर्तत इति।

यही सूत्र माठरवृत्ति के अन्त में भी उद्धृत है। सम्भवतः यह पञ्चशिख का सूत्र है।

दुर्ग का अपने सम्बन्ध में कथन

निरुक्त ४।१४॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः।

अर्थात्—मैं कापिष्ठल वासिष्ठ हूं। वह अपनी योग्यता के सम्बन्ध में बड़े नम्र शब्दों में कहता है—

ईदृशेषु शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरवबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते। वयं त्वेतावदत्रावबुद्ध्यामह इति। ७।३१॥

अर्थात्—ऐसे कठिन मन्त्रों के व्याख्यान में विद्वानों की बुद्धियां नहीं रुकतीं। हम तो यहां इतना ही जानते हैं।

जब उसे निरुक्त के किसी पाठ पर सन्देह होता है तो वह बड़ा सावधान होता है—

एवमेतद्भाष्यं दुर्योज्यं यद्येष भाष्यस्य सम्यक्पाठः । अथ पुनरसम्यक्पाठस्ततःसम्यक्पाठोऽन्वेष्टव्यः । अहं तु लक्षये । यथैष मया मन्त्रो व्याख्यातः स एव सम्यक्पाठः स्यात् । ५।१७॥

अर्थात्—यदि निरुक्त का यही ठीक पाठ है, तो इसका अर्थ नहीं जुड़ता । और यदि पाठ ठीक नहीं तो ठीक पाठ खोजना चाहिए । मैं विचार करता हूं कि जैसा मैंने मन्त्र-व्याख्यान किया है, वही सम्यक्पाठ है ।

इससे ज्ञात होता है कि निरुक्तार्थ करने में वह अपनी स्वतन्त्रता भी वर्तता है ।

दुर्ग और वेदार्थ का ऐतिहासिक पक्ष

दुर्ग वेद में इतिहास तो मानता है, परन्तु उसका इतिहास नित्य इतिहास है । वह लिखता है—

एतस्मिन्नर्थे इतिहासमाचक्षते आत्मविद इतिवृत्तं परकृत्यर्थवादरूपेण यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते । स पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तॄणामुपदेशपरत्वात् ।१०।२६॥

अर्थात्—इस विश्वकर्मा भौवन के विषय में आत्मज्ञानी परकृत्यर्थवादरूप से इतिहास कहते हैं । जिस किसी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ को उसका अर्थ अधिक प्रकाश करने के लिए कथा घड़ी जाती है, वही इतिहास कहाता है । वह इतिहास सब प्रकार से नित्य और मन्त्रार्थ में अविवक्षितस्वार्थ होता है । वह इतिहास मन्त्र का अर्थ ग्रहण करने वालों के लिए उपदेशमात्र होता था ।

पुनः निरुक्त २।१६॥ पर दुर्ग की वृत्ति है—

एवमेतस्मिन्मन्त्रे मायामात्रत्वमेव युद्धमिति श्रूयते । विज्ञायते च—तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरमिति [शत० ११।१।६।६॥]

अर्थात्—इन्द्र वृत्र के जो युद्ध मन्त्रों में वर्णित हैं, वह कोई मनुष्यों का वास्तविक युद्ध नहीं है । वह तो मध्यमस्थानी देवताओं का मायामात्र युद्ध है ।

काल

हम पहले पृ० ६—१४ तक यह विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं, कि उद्गीथादि भाष्यकार दुर्ग को जानते थे। उद्गीथ का काल संवत् ६८७ के समीप है, अतः दुर्ग संवत् ६०० के समीप वा इस से पहले हुआ होगा।

निवास

दुर्ग कहां का रहने वाला था, इस विषय में डा० स्वरूप ने लिखा है—[1]

That he wrote his commentary in a hermitage near Jammu is proved by the colophon on f. 132 v. at the end of the eleventh chapter of *Nirukta*, which runs as follows:

ऋग्वार्थायां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रमनिवासिन आचार्य-भगवद्दुर्गसिंहस्य कृतौ षोडशस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

This shows that the full name of the commentator was Durgasimha. The fact that he lived in a hermitage and was addressed as *bhagvat* indicates that he was an ascetic and belonged to some particular order of Sannyas.

अर्थात्—जम्बू के समीप किसी आश्रम में वास करते हुए उसने निरुक्त-वृत्ति लिखी। ग्यारहवें अध्याय के अन्त में यह लिखा मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि उसका पूर्ण नाम दुर्गसिंह था। वह भगवन् शब्द से सम्बोधित होता था और आश्रमवासी था। इससे ज्ञात होता है कि वह किसी श्रेणि-विशेष का संन्यासी था।

हमारा भी यही विचार है कि दुर्ग संन्यासी था। स्कन्द-महेश्वर के निरुक्त भाष्य-टीका में भी उसे भगवद्दुर्ग लिखा गया है। परन्तु एक सन्देह इस विषय में है। दुर्ग ने अपना गोत्र स्वयं बताया है। संन्यासी लोग यज्ञोपवीत, शिखा, गोत्रादि रहित हो जाते हैं। पुनः दुर्ग ने अपना गोत्र क्यों बताया।

दुर्ग किस जम्बू के मार्गस्थ आश्रम का रहने वाला था? डा० स्वरूप का विचार है कि आधुनिक पंजाब के पास रयासत कश्मीर के समीप का रहने

१—निरुक्त, भूमिका पृ० २६।

वाला था। हमारा विचार है कि दुर्ग गुजरात का रहने वाला था। अब भी बड़ोदा के समीप जम्बूसर एक स्थान है। दुर्ग उसी के समीप का रहने वाला था। दुर्ग मैत्रायणी संहिता को अत्यधिक उद्धृत करता है। यह संहिता गुजरात के ही स्थानों में प्रसिद्ध थी, अतः दुर्ग भी सम्भवतः वहीं का निवासी था। परन्तु यह सब अभी तक अनुमानमात्र है। हम निश्चय से कुछ नहीं कह सकते।

दुर्गवृत्ति के प्राचीन हस्तलेख

डा० स्वरूप अपने निरुक्त की भूमिका में लिखते हैं—

A manuscript of his commentary in the Bodelian Library is dated 1387 A. D.........The manuscript was copied at Bhrigukshetra in the reign of Maharana-Durga-simhavijaya

अर्थात्—आक्सफोर्ड के बोडेलियन पुस्तकालय में दुर्गवृत्ति का एक कोश है। वह संवत् १४४४ का लिखा हुआ है और महाराणा दुर्गसिंहविजय के राज्य में भृगुक्षेत्र में लिखा गया था।

दुर्गवृत्ति का डाक्टर स्वरूप के सम्पादन काल तक सब से पुराना ज्ञात हस्तलेख यही था। इसी संवत् का एक कोश हमारे पुस्तकालय में भी है।[1] इस में पूर्वार्ध की वृत्ति है। उस के अन्त में लिखा है—

मंत्रदृक् ।स्तोति ।स्तोति ॥ एकादशोऽध्यायः ॥ ब ॥ यावं ।ता मंत्राः सर्वशाखा.... नि गुणपदानि लक्षणो ।द्दशतस्तानि सर्वा-।एयव व्याख्यातानि ॥ ब ॥ संवत् १४४४ व ।र्ष श्रा शु ६ सो ।म पूर्वा...

बिन्दु वाले स्थान त्रुटित हो गए हैं।

दुर्ग वृत्ति के भावी सम्पादकों को यह दोनों कोश अवश्य वर्तने चाहिएं।

दुर्गवृत्ति के अद्यावधि मुद्रित संस्करण

१—सब से पहला संस्करण सत्यव्रतसामश्रमी का है। सन् १८८५ से इस का मुद्रण आरम्भ हुआ और सन् १८९१ में समाप्त हुआ।

२—दूसरा जीवानन्द विद्यासागर ने एक संस्करण निकाला।

३—तीसरा संस्करण हमारे परमसुहृद् परलोकगत महामहोपाध्याय

१—संख्या ६३४७।

शिवदत्त जी का था। इस का मुद्रण काल संवत् १६६६ है।

४—चौथा संस्करण पूना से प्रकाशित हुआ था। इस का अभी तक पूर्वार्ध ही छपा है। मुद्रण-काल है इस का सन् १६१८। इस के सम्पादक हैं महादेव-सूनु हरि भडकम्कर।

५—पांचवां संस्करण अध्यापक बैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े का है। इस का पूर्वार्ध सन् १६२१ और उत्तरार्ध सन् १६२६ में छपा था।

इन में से पहले दोनों संस्करणों के विषय में अध्यापक राजवाड़े ने अपने संस्करण की भूमिका में जो लिखा है, वह पढ़ने योग्य है —

एते नैव विश्वसनीये प्रमादप्राचुर्याद्यत्रतत्रानवधानतादोषाच्च। अनवधानतादोषा असंख्याताः कदा कदोपहास्याश्च॥ तेषामुदाहरणानि।......

एतादृशा दोषाः शतश उपलभ्यन्ते। ते न केवलमनवधानतामूलाः। अज्ञानमपि यत्र तत्राविष्क्रियते। कदा कदा पङ्क्तयोऽपि गलिता दृश्यन्ते। यथा........एतादृंशि गलितोदाहरणान्यन्यान्यपि सन्ति।

कदा कदा मूलवृत्तावविद्यमाना अपि शब्दा वृत्तावन्तर्भाव्यन्ते। यथा......हस्तलिखितं न किञ्चनापि निरुक्तवृत्तिपुस्तकमेवं दोषरुग्णं भवेत्। अहो व्यर्थः प्रयासः सत्यव्रतजीवानन्दभट्टाचार्याणाम्।[1]

अर्थात्—सत्यव्रत और जीवानन्द के संस्करण दोषों से भरे पड़े हैं। वे दोष ऐसे हैं कि किसी हस्तलिखित पुस्तक में भी न होंगे। अहो, इन दोनों का प्रयास व्यर्थ ही था।

अध्यापक राजवाड़े के ये वचन मैंने महामहोपाध्याय शिवदत्त को भी सुनाए थे। उन्होंने सरल हृदय से उसी समय कहा था कि 'दुर्गवृत्ति के मेरे संस्करण का आधार सत्यव्रत का संस्करण ही था। अतः निस्सन्देह ये सब दोष मेरे संस्करण में भी होंगे।'

महादेव हरि भडकम्कर का संस्करण पर्याप्त अच्छा है। परन्तु दुर्गवृत्ति

१—अध्यापक राजवाड़े सम्पादित दुर्गवृत्ति की भूमिका, पृ० २–५।

की दृष्टि से राजवाड़े का संस्करण अभीतक सर्वोत्तम है। राजवाड़े की टिप्पणी बहुत उपादेय है। फिर भी दुर्गवृत्ति पर अभी बहुत यत्न होना चाहिए।

४—स्कन्द महेश्वर (संवत् ६८७ के समीप)

निरुक्त पर स्कन्द की टीका इस समय भी मिल सकती है। इसकी सबसे पहली सूचना सन् १९१६ में पं० रामप्रपन्न शास्त्री ने मुझे दी थी। उन्होंने रियासत जम्बू में यह टीका किसी से हस्तगत की थी। वे उन दिनों निरुक्त की वृत्ति लिख रहे थे। उस वृत्ति में उन्होंने स्कन्द के कई प्रमाण दिए हैं। तदनन्तर सन १९२१ में मैंने बड़ोदा से स्कन्दटीका का प्रथमाध्याय मंगाकर पढ़ा था। उस पर मैं ने अपनी लेखनी से एक टिप्पण भी किया था। पुनः सन् १९२४ के अन्त में मद्रास की ओरिएण्टल कान्फ्रेंस के समय मैं ने स्कन्द-टीका का एक सम्पूर्ण कोश वहां के राजकीय भण्डार में देखा था। मैं स्वयं भी इस टीका के हस्तलेख प्राप्त करने का यत्न कर रहा था। तभी मेरे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने एक सम्पूर्ण कोश मुझे भेज दिया था। सन् १९२१ में उन्होंने मुझे कहा था कि जहां से बड़ोदे का कोश प्राप्त किया गया था, वहां इस टीका के अगले अध्याय भी विद्यमान हैं। तदनन्तर वे अध्याय उन्होंने शान्ति-निकेतन में भेज दिए थे।

इसके पश्चात् सन् १९२८ में डा० स्वरूप ने निरुक्त पर स्कन्द-टीका का प्रथमाध्याय प्रकाशित किया। उन्होंने और भी हस्तलेख सामग्री प्राप्त कर ली थी। सन् १९३१ के तृतीय पाद तक डा० स्वरूप का सम्पूर्ण पूर्वार्ध मुद्रित हो चुका है। उत्तरार्ध के प्रकाशित होने में भी कोई चिर नहीं है।

डा० स्वरूप का संस्करण

डा० स्वरूप का संस्करण बड़े भारी परिश्रम का फल है। हस्तलेखों की अस्त-व्यस्त दशा को ध्यान में रखकर मैं समझता हूं कि आरम्भ में इससे अच्छा काम नहीं हो सकता था। अब इसके अधिक अच्छा बनाने के लिए यत्न किया जा सकता है। इसमें जो थोड़ी सी अशुद्धियां रह गई हैं वे अब दूर हो सकती हैं। अनेक प्रमाणों के मूलस्थान जो अनुपलब्ध थे, अब लिखे

जा सकते हैं।

यथा—

१—हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थापय इति श्रुतेः। स इत्यध्याहार्यम्।[1]

इसका शुद्धपाठ यह है—

हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थाय। य इति श्रुतेः स इत्याध्याहार्यः।

२—रोगादीनां होता........०सम्पादनेन विप्रकारी।[2]

स्कान्द ऋग्भाष्य १।१८।२॥ की तुलना से इसका शुद्ध पाठ निम्नलिखित है—

रोगादीनां हन्ता... ...सम्पादनेन तुरः क्षिप्रकारी।

३—तत् श्रुतेर्यच्छब्दः।[3]

इसके आगे **अध्याहार्यः** चाहिए।

४—ताः शतसंख्याका येषां ताति......।[4]

इसके स्थान में चाहिए—

ताः शतसंख्याका येषां तानि ....।

५—तमू अकृवेन त्रेधा हु भुवे कम् ऋबीसे अतिम् इति च मन्त्रलिङ्गम्।[5]

ये वस्तुतः दो मन्त्रों की प्रतीकें हैं—

तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्। [ऋ० १०।८८।१०॥] **ऋबीसे अत्रिम्।** [ऋ० १।११६।८॥]

६—कोकूयमान एतं तुदतीति वेति।[6]

१—भाग प्रथम पृ० ४६

२—भाग द्वितीय पृ० १६१।

३—भाग द्वितीय पृ० १६१।

४—भाग द्वितीय पृ० २०१।

५—भाग द्वि० पृ० २६२।

६—भाग द्वितीय पृ० ३८०।

कोकुवा शब्द पर दुर्ग और देवराज के व्याख्यान की तुलना से इसका पाठ ऐसा चाहिए—

कोकूयमान एनं नुदतीति वेति ।

७—तथा च शास्त्रान्तरे वक्ष्यति 'प्रकरणश एव मन्त्रा निर्वक्तव्याः' इति ।[1]

इसके टिप्पण में लिखा है—[अनुपलब्धमूलमिदम्]

यह निरुक्त १३।१२॥ का वचन है, अतः इसका पाठ निम्नलिखित चाहिए।

तथा च शास्त्रान्ते वक्ष्यति—प्रकरणश........

इसी प्रकार के और भी अनेक पाठ हैं, जो अब अनायास ही शुद्ध हो सकते हैं। अस्तु, हम डा० स्वरूप को बधाई देते हैं, कि उन्होंने यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया है। इस ग्रन्थ के भावी सम्पादकों को स्कन्द-ऋग्भाष्य, उद्गीथ-भाष्य, देवराजकृत-निघण्टु-निर्वचन आदि ग्रन्थों की पूरी सहायता लेनी चाहिए।

स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका

१—इस टीका में **अन्ये**, **अपरे**, **एके** और **केचित्** आदि कहकर अनेक प्राचीन व्याख्याकारों के वचन उद्धृत किए गए हैं।

२—**तत्त्वा यामि** २।१॥ यह मन्त्रांश नहीं, प्रत्युत लौकिक वचन है, ऐसा स्कन्द का मत है। जो इसे मन्त्रांश मानते हैं, उन के विषय में लिखा है—

एतदपव्याख्यानम् ।

३—वैयाकरण आपिशलि का एक स्वतन्त्र धातुपाठ था, यह स्कन्द के निम्नलिखित वचन से जाना जाता है—

उषि-जिघर्त्ती छान्दसौ धातू । व्याकरणस्य शाखान्तरे आपिशलादौ स्मरणात् ।[2]

आपिशलि का निरुक्त-टीका १।२॥ में भी स्मरण किया गया है। पुनः २।३॥ की टीका में लिखा है —

अयं च व्याकरणस्य शाखान्तरे कश्चिदन्वाख्यातः ।

१—भाग द्वि० पृ० ४६७ ।

२—भाग द्वि० पृ० २२ ।

अर्थात्—व्याकरण की शाखान्तर में है।

४—मनु बहुत उद्धृत है।[1]

५—पृ० ५२ और २५१ पर चरकों के मन्त्र और पृ० ३०४ पर चरक-ब्राह्मण का एक लम्बा पाठ मिलता है।[2] चरकब्राह्मण का यही पाठ सायण के ऋग्वेदभाष्य ८।६६।१०॥ में भी मिलता है। प्रतीत होता है कि यह पाठ स्कन्द के ऋग्भाष्य में भी उद्धृत था। वहीं से सायण ने यह पाठ लिया है।

६—पृ० ६४ पर शाकपूणि विषयक निरुक्त-वचन को पुराकल्प कहा गया है।

७—पृ० ७१ पर देवापि और शन्तनु को भीमसेनपुत्रौ लिखा गया है। जो ब्राह्मण देवापि के पास गए थे, उन्हें **मौद्गल्यप्रमुखा ब्राह्मणाः** लिखा है। इस से आगे पृ० ७३ पर ऋष्टिषेण च्यवन है, ऐसा लिखा है।

८—स्कन्द के एक लेख से प्रतीत होता है कि किसी पदकार का भी कोई ग्रन्थ था—

अभ्युपगम्यैतत्सामर्थ्यं पदकार आह उपसर्गाश्च पुनरेव-मात्मकाः। यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेष-माहुः। यत्र तु न प्रयुज्यते तत्र ससाधनां क्रियामाहुरिति, इति।

किस पदकार के किस ग्रन्थ का यह वचन है, यह खोजना चाहिए। पृ० ८१ पर शाकल्य, गार्ग्य और आत्रेय आदि पदकारों का वर्णन है।[3]

९—भाग १ पृ० ४६ और भाग २ पृ० १४६ पर शाकपूणि के निघण्टु के प्रमाण मिलते हैं। इन का उल्लेख हम पूर्व पृ० १७० पर कर चुके हैं।

१०—स्कन्द की टीका में निरुक्त के अनेक पाठान्तर दिए गए हैं। देखो भाग दो के पृ० १५०, १६६, १८० और ३४७ इत्यादि। कई पाठों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये अपपाठ हैं।[4] इस से प्रतीत होता है कि उस के काल

१—भाग द्वि० पृ० ३६, १२८, ३५२ इत्यादि।

२—भाग द्वि०।

३—भाग द्वि०।

४—भाग द्वि० पृ० १८३, २७७।

तक कई प्राचीन कोशों और टीकाओं में निरुक्त का पाठ बदल गया था।

११—देवताकार[1], चूर्णिकार[2], गीता[3], और कोई अनुक्रमणी[4] भी उद्धृत है। अनुक्रमणी का पाठ देखने योग्य है—

यज्ञे देवस्य वितते महतो वरुणस्य हि।
ब्रह्मणो ऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्द कर्हिचित्॥
तत्परीक्ष्य सवर्णां न स जुहाव विभावसौ।
ततोऽर्चिषोऽभूद् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः॥
अत्रैवान्वेषणादत्रिः खननाद्विखनो मुनिः।
इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा ऋषिसत्तमाः॥

यह पाठ बृहद्देवता ५।९९, १०१, १४६॥ से कुछ कुछ मिलता है। सम्भव है प्राचीन आर्षानुक्रमणी का पाठ हो।

१२—स्कन्द उन मीमांसकों का भी वर्णन करता है, जो यज्ञ को सब कुछ मानते थे, और जिन्होंने इसी अभिप्राय से उपनिषदों की निन्दा की है—

केश्चित्तु मीमांसकैः वेदोपरमुपनिषत् न वाग्व्यवहारातीतं ब्रह्म इतिशून्यवाचोयुक्तिरिति वदद्भिः अपहसितम्। ३।१३॥[5]

अर्थात्—कई मीमांसक लोग मानते हैं कि वेद का बंजर भाग उपनिषत् है। वाणी आदि के व्यवहार से अतीत ब्रह्म उसका विषय नहीं है, इत्यादि।

ये मीमांसक मीमांसा ग्रन्थों में कई स्थानों पर उल्लिखित हैं।

१३—स्कन्द निरुक्त ३।१५॥ की टीका में **इनः** आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा और आदित्य दोनों ही मानता है।[6]

भर्तृहरि और स्कन्द

निरुक्त १।२॥ की टीका में स्कन्द लिखता है—

१—भाग द्वि० पृ० ३८,३९।
२—भाग द्वि० पृ० १७७।
३—भाग द्वि० पृ० १९९।
४—भाग द्वि० पृ० १७९।
५—भाग द्वि० पृ० १९०।
६—भाग द्वि० पृ० १५३।

आह च—

पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम् ।

संमूर्छित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते ॥ इति ।[1]

पुनः निरुक्त ५।१६॥ की टीका में लिखा है —

तथा चोक्तम्-साहचर्यं विरोधिना इति ।[2]

इनमें से प्रथम प्रमाण भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय के तीसरे या प्रकीर्ण काण्ड में मिलता है और दूसरा दूसरे काण्ड का ३१७ श्लोक का द्वितीय पाद है। दूसरे प्रमाण का पाठ **साहचर्यं विरोधिता** चाहिए।

अब विचारने का स्थान है कि चीनी यात्री इत्सिङ्ग के अनुसार भर्तृहरि का देहान्त सन ६५१–५२ में हुआ था। सन् ६३८ में हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण पर भाष्य किया, यह पूर्व पृ० ३ पर लिखा जा चुका है। क्या यह सम्भव है कि भर्तृहरि ने अपना ग्रन्थ वाक्यपदीय सन् ६२० तक लिख लिया हो, अथवा स्कन्द–महेश्वर का ग्रन्थ इतना प्राचीन न हो जितना हम इसे समझते हैं।

ये प्रश्न बड़े जटिल हैं। परन्तु एक बात सुनिश्चित है। डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने यह बात बताई है कि हरिस्वामी शतपथ ब्रा० के प्रथम काण्ड के भाष्य में भर्तृहरि की वाक्यपदीय के प्रमाण देता है। अतः उसके समीपवर्ती स्कन्द-महेश्वर भी वाक्यपदीय से प्रमाण दे सकता है। भर्तृहरि का काल लिखने में इत्सिङ्ग ने भूल की है। इस बात की ओर हम पहले भी पृ० २०६ के दूसरे टिप्पण में संकेत कर चुके हैं।

भामह का प्रमाण

निरुक्त १०।१६॥ की टीका में लिखा है—

आह च —

तुल्यश्रुतीनां........अभिधेयैः परस्परम् ।

वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निरुच्यते ॥

---

1 - भाग प्रथम पृ० २८ ।

२—भाग द्वि० पृ० ३५६ ।

यह श्लोक भामह का है, और इसका पूर्ण पाठ निम्नलिखित है—

तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।
वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ॥ २।१७ ॥

अनेक नवीन अलङ्कार-ग्रन्थों का यमक-लक्षण न लिखकर स्कन्द ने भामह का प्रमाण दिया है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो स्कन्द प्राचीन ग्रन्थों का प्रेमी था, या वह स्वयं प्राचीन था। नवीन ग्रन्थों का वह प्रमाण कैसे देता। यही दूसरा पक्ष सब प्रकार से सत्य प्रतीत होता है।

स्कन्द और वेदों में इतिहास

हम पहले पृ २०४ पर लिख चुके हैं कि स्कन्द-महेश्वर का मत है कि 'नैरुक्त, ऐतिहासिक आदि सब दर्शनों में सब मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए।' तो क्या स्कन्द वेदों में मानव-अनित्य-इतिहास मानता है? नहीं, उसका विचार निम्नोद्धृत पंक्तियों के देखने से सुस्पष्ट हो जायगा—

एवमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः।.........औपचारिको मन्त्रेष्वाख्यानसमयः परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम्।[1]

अर्थात्—आख्यानरूप मन्त्रों की यजमान अथवा नित्य पदार्थों में योजना करनी चाहिए। यह निरुक्त-शास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में इतिहास का सिद्धान्त उपचारमात्र से है। वस्तुतः नित्यपक्ष से ही अर्थ होना चाहिए। यही सत्य है।

पुनः २।१६॥ की टीका में लिखा है—

सर्वे इतिहासा अर्थवादमूलभूताः। ते चान्यपरा विधिप्रतिषेधशेषभूताः। अतस्ताननादृत्य स्वयमविरुद्धं नित्यदर्शनमुपोद्बलयन्नाह—मेघ इति नैरुक्ताः।

अर्थात्—सब इतिहासों का मूल अर्थवाद है। इसी लिए यास्क कहता है—मेघ=बादल ही वृत्र है, ऐसा नैरुक्त मानते हैं।

१—भाग द्वि० पृ० ७८।

इसी लिए स्कन्द ने नित्य पक्ष में भी मन्त्रों का अर्थ दिखाया है ।[1]

उद्गीथ के अर्थ में आपत्ति

हम पहले पृ० १४, १५ पर लिख चुके हैं, कि निरुक्त-भाष्य-टीका में स्कन्द के ऋग्वेद-भाष्य से बड़ी सहायता ली गई है । प्रायः सारे ही ऋग्वेदीय मन्त्रों का व्याख्यान ऋग्वेद-भाष्य से लिया गया है । उसमें अपना पाठान्तर बहुत ही स्वल्प किया गया है । इसी प्रकार निरुक्त ३।१०॥ की टीका में ऋ० १०।४८।७॥ मन्त्र दिया गया है । स्कन्द-महेश्वर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए पहले लगभग उद्गीथ भाष्य की नकल की है ।

इस से आगे टीका में लिखा है—

एवं तु व्याख्यायमाने घोटारूढस्य विस्मृतो घोट इत्येतदापद्यते ।......पूर्वमुत्तरेण न संगच्छते । अतोऽन्यथा व्याख्यायते ।... तस्मादुपक्रमोपसंहारगतेरुपपन्नमेतद् व्याख्यानम् ।

पूर्वत्रापि व्याख्याने ग्रन्थमित्थं नयन्ति ।...तदेतद् यदि संगच्छते तथाऽस्तु ।

अर्थात् —यदि यह व्याख्यान माना जाए, तो पूर्वोत्तर की संगति नहीं लगती । अतः दूसरे प्रकार से इस का व्याख्यान किया जाता है ।...

पूर्व व्याख्यान में भी यह संगति जोड़ी जाती है ।...तो यदि यह संगति लग जाए तो वैसे ही हो ।

इस सारे लेख से यह पता लगता है कि स्कन्द-महेश्वर को उद्गीथ का व्याख्यान अभिमत नहीं था । दुर्ग का व्याख्यान भी भाव में उद्गीथ-व्याख्यान के समान ही है । अतः स्कन्द—महेश्वर को वह भी युक्त प्रतीत न होगा । परन्तु उद्गीथ स्कन्द का सहकारी था, अतः स्कन्द-महेश्वर उस का बहुत खण्डन न कर के इतना ही लिखता है, कि यदि इस व्याख्यान की संगति लग सकती है, तो वैसे ही हो । ये अन्तिम शब्द ध्यान से विचारने योग्य हैं ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त प्रकरण निरुक्त के तीसरे अध्याय

१—देखो, भाग द्वि० पृ० ७७, ११५, ११८, १३६, १८०, २६४, ३४५, ४६३ इत्यादि ।

में है। उस अध्याय की टीका स्पष्ट ही महेश्वर की रची हुई है।

निरुक्त-भाष्य-टीका में अभिधानकोश

गिर्वणा शब्द के व्याख्यान में लिखा है—

तथाभिधानकोशकारः पठति—

गीर्वाणाः स्युर्दिवौकसः। इति ॥

इस अभिधानकोश की खोज करनी चाहिए।

निरुक्त-भाष्य-टीका कब रची गई, महेश्वर का स्कन्द के साथ क्या सम्बन्ध है, दुर्ग स्कन्द महेश्वर से पहले हो चुका था, इत्यादि सब विषयों पर पूर्व पृ० ५—१६ तक विस्तृत लिखा जा चुका है। वह वहीं देखना चाहिए।

५—श्रीनिवास (संवत् १३०० से पूर्व)

देवराजयज्वा अपने निघण्टु-निर्वचन की भूमिका में लिखता है कि श्रीनिवास ने किसी वेद पर भाष्य किया था। उसके वेदभाष्य के सम्बन्ध में हम अभी तक कुछ नहीं जान सके। परन्तु उसने निरुक्त पर भी भाष्य किया था। यह बहुत सम्भव है

निरुक्त २।७॥ में एक निर्वचन है—

शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा

इसके सम्बन्ध में देवराज लिखता है—

शृङ्गं श्रयतेः। इत्यत्र स्नातेर्वा इति निर्वचनस्य पाठः श्रीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः।[1]

वेदभाष्य में भी श्रीनिवास यह पाठ उद्धृत कर सकता है, परन्तु देवराज का लेख देखकर यही अनुमान होता है कि श्रीनिवास ने निरुक्त का व्याख्यान भी किया होगा।

निघण्टु २।३।१॥ पर देवराज ने पुनः लिखा है—

अत्र श्रीनिवास........।

इससे पूर्व देवराज स्कन्द-निरुक्त-टीका से एक उद्धरण देता है। इससे

१—निघण्टु—निर्वचन १।१७।११॥

भी पता लगता है कि श्रीनिवास का व्याख्यान भी निरुक्त पर ही होगा। इस व्याख्यान की भी खोज होनी चाहिए।

६—नागेशोद्धृत निरुक्त-भाष्य

नागेशभट्ट अपनी वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा के स्फोटभेदनिरूपण प्रकरण में लिखता है—

निरुक्तभाष्येऽपि उक्तरीत्या पदसत्ताऽभावाशङ्कोत्तरभूतं—व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य इति प्रतीकमुपादायोक्तम्—

अभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयाकाशप्रतिष्ठिता परबोधनेच्छया पुरुषेणोदीर्यमाणा कण्ठादिषु वर्णभावमापद्य बाह्याकाशस्थं शब्दं स्वस्वरूपं कृत्वा श्रोत्रद्वारेण तत्र स्थितां श्रोतुर्बुद्धिमनुप्रविश्य सर्वार्थसर्वाभिधानरूपां तत्तद्बुद्धिं व्याप्नोति। पुरुषप्रयत्नजा वक्त्रोद्घाताः परं नश्यन्ति न शब्दः। स च तदनुरक्तोऽर्थप्रत्ययं जनयति इति तत्रत्यपदत्वादिकं वक्त्रोद्घातेष्वारोपयन्ति तद्गतनाशादि च तस्मिन्। बुद्ध्यवस्थस्यैव चार्थस्य प्रत्ययमादधाति शब्दः। तेनैव तस्य संबन्धात् इति॥[1]

यह पाठ न ही दुर्गवृत्ति में मिलता है और न स्कन्द की निरुक्त-भाष्य टीका में। दुर्गवृत्ति में इसका कुछ भाव मिलता है और कुछ शब्दों की भी समानता है। इस से प्रतीत होता है कि दोनों का कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

वाररुच निरुक्त-समुच्चय

वाररुच निरुक्त-समुच्चय एक बड़ा रुचिकर ग्रन्थ है। यह निरुक्त की व्याख्या तो नहीं, परन्तु नैरुक्त-सिद्धान्तानुसार कोई १०० मन्त्रों का व्याख्यान है। इसके उपलब्ध करने का श्रेय डा० कुह्नन् राज को है। इस का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

१—चौखम्बा संस्करण पृ० ३६४, ३६५।

अग्निं वायुं तथा सूर्यं लोकानामीश्वरानहम् ।
नमामि नित्यं देवेशान्निरुक्तसमये स्थितः ॥

अथेदानीं मन्दप्रज्ञावबोधनार्थं मन्त्रविवरणम् । निरुक्तमन्तरेण न सम्भवति । यत् आह—

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यत इति ।
नानिरुक्तार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वक्तुमर्हति :
इति च वृद्धानुशासनम् ।

निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्याः । मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—

योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति ।

शास्त्रान्ते च—

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवतीति च।
वेदपदार्थविवरणे च बाहुश्रुत्यमन्वेष्टव्यम् ।

अर्थात्—अब मन्दबुद्धिवालों के समझाने के लिए मन्त्रों का विवरण करते हैं। विवरण निरुक्त के विना नहीं हो सकता और न ही निरुक्त के बिना मन्त्रों का अर्थज्ञान हो सकता है। इसी लिए वृद्धानुशासन है कि निरुक्त के न जानने वाला मन्त्र का निर्वचन नहीं कर सकता। निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार ही मन्त्रों का निर्वचन करना चाहिए।

इस लम्बे उद्धरण से कई बातें पता लगतीं हैं। **नानिरु०** यह वृद्धानुशासन निरुक्त-वार्तिक का श्लोकार्ध प्रतीत होता है। यह निरुक्त की उस पंक्ति का भाव है, जो वररुचि ने इससे पहले लिखी है। आगे वररुचि निरुक्त १३।१२॥ की पंक्ति उद्धृत करता है,। इससे ज्ञात होता है कि वररुचि के काल में यह अध्याय निरुक्त का अङ्ग था।

इस ग्रन्थ में कुल चार कल्प हैं। प्रथम का आरम्भ पूर्व लिखा जा चुका है। अब दूसरे का आरम्भ लिखा जाता है—

पूर्वस्मिन् कल्पे प्रकीर्णकरूपेण निर्वचनक्रमः प्रदर्शनीयः ।

इदानीं-ज्ञात्वा चानुष्ठानमित्युक्तत्वात् नित्यकर्मविहितान् ? मन्त्रान् ? व्याख्यायन्ते—

मित्रस्य चर्षणीधृतः

विश्वामित्रस्यार्षम् । मित्रो मध्यमस्थानदेवतासु पठितत्वान्मध्यमस्थानत्वेन निरुक्तः । द्युस्थानैरपि मित्रोऽस्ति स इह निरुच्यते । प्रथमं तावदयं यजुश्शाखानुरोधेन व्याख्यायते ।

अर्थात्—पहले कल्प में प्रकीर्णरूप से निर्वचन-क्रम दिखाया । अब नित्यकर्म के मन्त्रों की व्याख्या की जाती है। **मित्रस्य** यह मन्त्र पहले याजुषशाखा के अनुरोध से व्याख्यान किया जाता है।

तीसरे कल्प के आरम्भ में लिखा है—

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वषट्करिष्यन्-इति श्रुतेः । अतः परं दर्शपूर्णमास-याज्यानुवाक्या-आज्यभागप्रभृति-स्विष्टकृत्पर्यन्ता व्याख्यायन्ते ।

अर्थात्—दर्शपूर्णमास, याज्यानुवाक्या, और आज्यभाग से लेकर स्विष्टकृत् पर्यन्त मन्त्रों का व्याख्यान किया जाता है ।

चतुर्थकल्प के आरम्भ में लिखा है—

एकात्रिंशद्विधं मन्त्रं यो वेत्त्यृक्षु स मन्त्रवित्

इति वचनात् एकात्रिंशद्विधा मन्त्रा व्याख्यायन्ते ।

अर्थात्—ऋचाओं में जो ३१ प्रकार के मन्त्रों को जानता है, वह मन्त्रवित् कहाता है, उस कथनानुसार ३१ प्रकार के मन्त्रों का व्याख्यान किया जाता है ।

चतुर्थ कल्प की समाप्ति के पश्चात् इन ३१ प्रकार के मन्त्रों की गणना की है । यह गणना बृहद्देवता १।३४—४७॥ के श्लोकों से कुछ मिलती है। ऐसी ही एक गणना ब्रह्माण्ड पुराण में भी मिलती है ।[1]

इस निरुक्तसमुच्चय में निम्नलिखित ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का स्मरण किया गया है—

१—देखो, मुम्बई का संस्करण, पत्र ६१ ख ।

निरुक्त-समुच्चय में निम्नलिखित बातें विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं—

१—एवं पूर्वपक्षापरपक्षान्ते निर्वहनिर्वाणेन भागं भजनीयमाहारत्वेनाज्यादि हविरुच्यते ।[1]

शर्म सुखं निर्वाणरूपम् ।[2]

देवं दानादिगुणयुक्तमागमगम्यं निर्वाणम् ।[3]

१—पृ० ७ ।

२—पृ० ३२ ।

३—पृ० ५९ ।

पहले स्थान का पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है, परन्तु अगले दोनों स्थानों को देखकर यह कहना पड़ता है कि उनमें निर्वाण शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में है जिसमें कि बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। क्या वररुचि कोई बौद्ध था ?

२—दिवे दिवे अहर्नामैतत् सप्तम्येकवचनमेव समाम्नायेषु समाम्नातम्।[1]

क्या समाम्नाय शब्द के बहुवचन प्रयोग से यह समझना चाहिए कि दूसरे वेद-निघण्टुओं में भी ये पद पढ़े गए थे।

३—तथा च प्रकरणश एव विनियोक्तव्य इति भाष्यकार-वचनात्।[2]

यह निरुक्त १३।१२॥ का ही पाठान्तर प्रतीत होता है।

हम पहले लिख चुके हैं कि वररुचि निरुक्त १३।१३॥ को भी उद्धृत करता है। अतः निरुक्त का पहला परिशिष्ट वररुचि के काल निरुक्तान्तर्गत ही था।

अतः निरुक्त का पहला परिशिष्ट वररुचि के काल में भी निरुक्तान्तर्गत ही था, यह स्पष्ट है।

अथवा 'तत्वा' इति 'तनु विस्तारे' इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययान्तस्य 'उदितो वा' इतीटो षेवति ? विकल्प एतद्रूपं। तत्वा तनित्वा परिचर्यया याचे।

इस के साथ निरुक्त २।१॥ की स्कन्दस्वामी की टीका की तुलना करनी चाहिए—

'तत्वा' इत्येतत् तनु विस्तारे इत्यस्य क्त्वाप्रत्ययेन रूपम्। ···अपरः 'उदितो वा' इतीटो वैकल्पिकत्वादिकाराभावः। सोऽत्र वर्णलोपः। तत्वा तनित्वा इत्यर्थः।

इन दोनों वचनों की समानता को देख कर यह ज्ञात होता है कि, इन में से एक ग्रन्थकार ने दूसरे का आश्रय लिया है।

१—पृ० ३८।

२—पृ० ४६।

५—ऋ० ८।२६।१॥ में **सूनरः** एक पद है। उसका अर्थ करते हुए वररुचि लिखता है—

सूनरः शोभनाः कर्तव्यपदार्थज्ञा नरा मनुष्या अध्वर्य्वादयो यस्य संबन्धित्वेन सन्ति सूनरः। शोभना नरः। पदकारेणैतत् पदं नावगृहीतं तथापि भाष्यकारवचनात् पदकारमनादृत्यैतन्निरुक्तम्।

अर्थात्—पदकार के अनुसार **सूनरः** अवग्रह के विना पद है, परन्तु भाष्यकार के अनुसार इसमें अवग्रह है। उसी प्रकार से इसका व्याख्यान किया है।

वररुचि यास्क को ही भाष्यकार कहता है, पर इस मन्त्र को यास्क ने प्रतीकमात्र पढ़ी है। उसने इसका अर्थ नहीं किया। अतः वररुचि का अभिप्राय किस भाष्यकार से है, यह ज्ञात नहीं हो सका। दुर्ग इस मन्त्रप्रतीक को निरुक्त में नहीं पढ़ता। स्कन्द इसे पढ़ता है, परन्तु सारे मन्त्र का अर्थ नहीं करता।

६—दाशुषे दाश्वानिति शाकपूणिना नैरुक्ताचार्येण यजमाननामसु पठ्यते।

अर्थात्—दाश्वान् को शाकपूणि अपने निघण्टु में यजमान के पर्यायों मे पढ़ता है।

७—३१ प्रकार के मन्त्रों में एक विकल्प मन्त्र भी है। उसका उदाहरण देते हुए वररुचि लिखता है—

इन्द्र क्रतुं न आ भर

इति विकल्पः। अनेकवाक्यकल्पनया विकल्पः। देवताविकल्पो वा। वायुरिति नैरुक्ताः। सूर्य इति याज्ञिकाः। शक्तिर्नाम वसिष्ठपुत्रस्तस्यार्षम्। प्रथमं तावद् याज्ञिकमतेन व्याख्यायते।

अर्थात्—अनेक वाक्यों की कल्पना को विकल्प कहते हैं और देवता विकल्प को भी विकल्प कहते हैं। इस मन्त्र का वायु देवता है, ऐसा नैरुक्त मानते हैं, और सूर्य देवता है, ऐसा याज्ञिक मानते हैं। इसका ऋषि वसिष्ठ-पुत्र शक्ति है। अब पहले याज्ञिक के मत के अनुसार इस ऋचा का व्याख्यान किया जाता है। यह मन्त्र ऋ० ७।३२।२६॥ है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसका देवता इन्द्र है।

बृहद्देवता का भी ऐसा ही मत है। वररुचि ने याज्ञिकों का और नैरुक्तों का मत कहां से लिया, यह विचारणीय है। हां, इन्द्र का अर्थ वायु और सूर्य दोनों हो सकते हैं।

वररुचि और वेदों में इतिहास

वररुचि नैरुक्तदर्शनानुसारी भाष्य करता है, अतः उस के भाष्य में अनित्य इतिहास को स्थान नहीं। वह **नित्यपक्ष** शब्द का प्रयोग भी करता है।[1] एक स्थान पर वह लिखता है—

एवमाख्यानसमयेनेयं मन्त्रस्य योजना।

अथवा कश्चिद्यजमान उत्तमाधममध्यमैः पाशैः बद्धो राजानं वरुणं प्रार्थयते।[2]

अर्थात्—इस प्रकार आख्यान-दर्शन में यह मन्त्रार्थ है। अथवा तीन पाशों में बंधा हुआ कोई यजमान राजा वरुण की प्रार्थना करता है—

फिर वररुचि लिखता है—

सिन्धूनां सिन्धवो नद्यः। इह सामर्थ्यादन्तरिक्षचारिण्यो गृह्यन्ते।[3]

अर्थात्— ये नदियां अन्तरिक्षचारिणी हैं

यम यमी के सम्बन्ध में वररुचि लिखता है—

एवमैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरूरवा मध्यमस्थानः। वाय्वादीनामेकत्वात् पुरु रौतीति पुरूरवाः उर्वशी विद्युत्। उरु विस्तीर्णं अन्तरिक्षं दिव्यत इति उर्वशी।[4]

अर्थात्—इस प्रकार ऐतिहासिक पक्ष में मन्त्र का अर्थ हुआ। नैरुक्तपक्ष में पुरूरवा मध्यमस्थानी देवता है। बहुत कोलाहल करने से पुरूरवा वायु है। उर्वशी तडित् है। फैले हुए आकाश में चमकने से उर्वशी नाम है।

१—पृ० १४।

२—पृ० २५।

३—पृ० १०७।

४—पृ० १४१।

इसी यम यमी का नैरुक्तपक्ष में अर्थ कर के वह लिखता है—

एवं नैरुक्तपक्षे योजना। औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यानसमयः। नित्यत्वविरोधात्। परमार्थेन तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां सिद्धान्तः।[1]

अर्थात्—मन्त्रों में ऐतिहासिकदर्शनानुसारी अर्थ उपचारमात्र से है। इतिहासपक्ष में नित्यत्व का विरोध आता है। परमार्थ से नित्यपक्ष ही सत्य है। यही नैरुक्तों का सिद्धान्त है।

यम यमी के सम्बन्ध में आगे चल कर लिखा है —

एवमैतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु यमी मध्यमस्थाना वाक्। यमश्च मध्यमस्थानः।[2]

अर्थात्—नैरुक्तपक्ष में यमी मध्यमस्थानी वाक् है और यम भी मध्यमस्थानी है।

इन सब स्थानों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वररुचि मन्त्रों में इतिहास नहीं मानता था।

वररुचि और स्कन्दस्वामी

पहले पृ० २३२ पर वेदों में ऐतिहासिकपक्ष के सम्बन्ध में स्कन्द-महेश्वर के जो प्रमाण दिए गए हैं, उन से यदि वररुचि के तत्सम्बन्धी लेख की तुलना की जाए तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है। **तत्त्वा यामि** पर भी दोनों का लेख बहुत मिलता है। इस से निश्चित होता है कि इन में से कोई एक ग्रन्थकार दूसरे के कई वचन नकल कर रहा है। वररुचि ने निर्वाण शब्द का जो प्रयोग किया है, उस से वह बौद्ध-प्रभाव-प्रभावित प्रतीत होता है। स्कन्द-महेश्वर की निरुक्तभाष्य-टीका में ऐसा शब्द मेरी दृष्टि में नहीं पड़ा। सम्भव है वररुचि स्कन्द से पुराना हो, परन्तु यह अनुमान ही है।

स्कन्द और वररुचि का शाकपूणि के निघण्टु से दिया हुआ एक प्रमाण भी समान ही है। दोनों की घनिष्ट सदृशता से कोई इन्कार नहीं कर सकता।

१—पृ० १४२।

२—पृ० १४७।

हम लिख चुके हैं कि निरुक्त-समुच्चय के चतुर्थ-कल्प में ३१ प्रकार के मन्त्रों का व्याख्यान है । वे ३१ प्रकार कौन से हैं, यह नीचे लिखा जाता है—

१—प्रैष १२०

२—आह्वान १२५

३—स्तुति १२६

४—निन्दा १२७

५—संख्या १२८

६—आशीः १३०

७—कर्म १३०

८—कत्थना १३२

९—प्रश्न १३४

१०—प्रतिवचन = व्याकरण १३५

११—शोधित १३६

१२—विकल्प १३७

१३—संकल्प १३९

१४—परिदेवना १३९

१५—अनुबन्ध १४०

१६—याञ्चा १४३

१७—प्रसव १४४

१८—संवाद १४५

१९—समुच्चय १४८

२०—प्रशंसा १४९

२१—शपथ १५०

२२—प्रतिशय १५२

२३—आचिख्यासा १५४

२४—प्रलाप १५५

२५—व्रीला १५६

२६—उपधावन १५७

२७—आक्रोश	१५८
२८—परिवाद	१६०
२९—परित्राण	१६२

इस गणना के अनुकूल दो प्रकार कम रहते हैं। हमारी प्रतिलिपि कई स्थानों पर त्रुटित है, अतः सम्भव है, वे दो प्रकार भी त्रुटित हो गए हों। यह भी हो सकता है कि वे हमारे ध्यान में न आए हों, क्योंकि हमने साधारण दृष्टि से ही पाठ किया है।

ग्रन्थ-समाप्ति के पश्चात् निम्नलिखित श्लोक हैं। वे किसी अन्य व्यक्ति के लिखे हुए प्रतीत होते हैं—

कल्पैश्चतुर्भिर्व्याख्यातं सारभूतमृचां शतम्।
सहस्रं पञ्चशतं श्लोकेनानुष्टुभा कृतम्॥
सहस्रं पञ्चशतं संख्या ग्रन्थस्य च कीर्तिता।
विस्तरभीत्या संक्षिप्तं तात्पर्यावबुद्धये॥
एवं निरुक्तमालोक्य मन्त्राणां विवृतं शतम्।
उक्तानुक्तदुरुक्तानि चिन्तयन्त्विह पण्डिताः॥[1]

अर्थात्—निरुक्त को देखकर संक्षेप से १०० मन्त्रों का व्याख्यान किया है। इसका परिमाण १५०० ग्रन्थ है।

कौत्सव्य का निरुक्त-निघण्टु

यह ग्रन्थ अथर्व-परिशिष्टों में से एक है। अथर्व-परिशिष्ट ७८ हैं। यह निघण्टु उनमें से ४८ वां है। अथर्व-परिशिष्टों का सम्पादन जे० फान नेगेलाईन और जार्ज मेलिविल बोलिङ्ग ने किया है। उनका संस्करण सन् १९०९ में छपा था। वह रोमन लिपी में था। सन् १९२१ या सं० १९७८ में इस निरुक्त-निघण्टु का देवनागरी-लिपि-संस्करण लाहौर में छपा था। उसके सम्पादक हैं पं० रामगोपाल शास्त्री।

1—पृ० १६३।

2—आर्षग्रन्थावली, लाहौर सन् १९२१ ई०

मूल संस्करण का आधार सात पुराने कोश हैं। परन्तु फिर भी इस पुस्तक के दोबारा सम्पादन की आवश्यकता है। सन् १६०६ के पश्चात् अथर्व-परिशिष्टों के कई नए कोश खोजे गए हैं।

ग्रन्थ-विभाग

इस निरुक्त-निघण्टु में कुल १४८ गण हैं। वे गण ६६ खण्डों में निभक्त हैं। यह खण्ड- विभाग किस आधार पर बना, यह हमें अज्ञात है। पहले इसमें आख्यात गण हैं, और फिर नाम आदि गण। इसका बहुत सा भाग यास्कीय निघण्टु से मिलता है। फिर भी कई ऐसे पद हैं, जो उस में नहीं मिलते।

जिस प्रकार का ऐकपदिक-काण्ड यास्कीय-निघण्टु में है, उसी प्रकार के दो गण इस निरुक्त-निघण्टु में है। संख्या है उनकी ११५ और ११६। गण ११६ के अन्त में लिखा है—**अनेकार्थाः**। यह निरुक्त-निघण्टु आथर्वण है। परन्तु इसके इन गणों में कई ऐसे पद हैं, जो अथर्ववेद में नहीं मिलते। सम्भव है वे अथर्ववेद की किसी अज्ञात शाखा में हों। यथा—

पाकस्थामा कौरयाणः।

अप्रायुवः।

अकूपारस्य।

इत्यादि। इनमें से अन्तिम दो पद दूसरी विभक्तियों में अथर्ववेद में मिलते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस निरुक्त-निघण्टु में अकूपारस्य के साथ दावने पद नहीं है।

इस निरुक्त-निघण्टु में जिन गणों के पश्चात् अर्थ दिया गया है, वह उसी ढंग से है, जैसा यास्कीय-निघण्टु के लघु-पाठ में है। यथा—

९९—आतः। आशाः। आष्ठाः। उपराः। काष्ठाः। व्योम। ककुभः। दिशाम्॥ ४६॥

इस ग्रन्थ का कर्ता कौत्सव्य कौन था, वह कब हुआ, उसने और भी कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं, ये सब बातें अभी अन्धकार में ही हैं। आथर्वण वाङ्मय के प्राचीन ग्रन्थों के मिलने पर सम्भव है इन पर कुछ प्रकाश पड़े।

निरुक्त-निघण्टु नाम

कौत्सव्य का ग्रन्थ अधिकांश में वेद-निघण्टुओं के समान ही है। परन्तु इसके अन्त में कुछ पंक्तियां ऐसी भी हैं, जो निरुक्त के समान हैं। यथा—

१४६-एतेषामेव लोकानाम् ऋतुच्छन्दस्तोमपृष्ठानामानुपूर्वेण भक्तिशेषोऽनुकल्पः॥ इत्यादि।

यास्कीय निघण्टु में देवपत्नियां अन्त में हैं, परन्तु इस में वे गण १३६ में ही एकत्र की गई हैं। उन से आगे निरुक्त के ढंग का पाठ है। इसी लिए इस ग्रन्थ का नाम निरुक्त-निघण्टु पड़ गया, ऐसा सम्भव हो सकता है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

परिवर्तन और परिवर्धन

पृ० ४—(घ) की चारों पंक्तियां निकाल देनी चाहिएं। कर्क अपने भाष्य में हरिस्वामी को उद्धृत नहीं करता। काशी के मुद्रित-संस्करण में सम्पादक की टिप्पणी भूल से मूल में छप गई है। उसी टिप्पणी में हरिस्वामी का नाम था। इसीलिए हमारी भूल हुई। नासिक क्षेत्रवासी श्री अण्णाशास्त्री वारे ने हम से कहा था कि कर्क कहीं भी हरिस्वामी को उद्धृत नहीं करता। इस के विपरीत कर्क सम्भवतः हरिस्वामी से भी पहले का ग्रन्थकार है।

डा० कुहनन् राज का अनुमान है कि स्कन्द के ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका के अन्त में—

अस्माभिर्भाष्यं करिष्यते

में **अस्माभिः** पद सम्भवतः स्कन्द, नारायण और उद्गीथ के सम्मिलित सम्पादन का द्योतक है। देखो, उनका लेख, पांचवीं ओरिएण्टल कान्फरेंस, पृ० २४६।

पृ० २०—**गोभिलगृह्यवृत्तिकार नारायण**। इसके ग्रन्थ का संवत् १५८३ का एक हस्तलेख पूना में है। अतः यह नारायण ४०५ वर्ष से अधिक ही पुराना होगा।

पृ०—४७ सर्वदर्शन-संग्रह में आनन्दतीर्थ-भाष्य-व्याख्या का स्मरण किया गया है। देखो वामन शास्त्री का संस्करण पृ० १५६ या पूर्णप्रज्ञ-दर्शन-प्रकरण। यह संभवतः जयतीर्थ ही की कोई व्याख्या होगी। यदि यह सत्य है तो जयतीर्थ का काल सायण से कुछ पहले वा साथ का होगा।

पृ०६३—डा० स्वरूप ने महीधर के काल के सम्बन्ध में जो मत प्रका

शित किया है, वही मत सत्यव्रत सामश्रमी का भी था। देखो उनका निरुक्तालोचन, महीधर का काल।

पृ० १००—हमने लिखा है कि अनन्त २४५ वर्ष से पुराना है। परन्तु अब यह समझना चाहिए कि अनन्त २६७ वर्ष अवश्य पुराना है। संवत् १७२१ का लिखा हुआ उसके एक ग्रन्थ का एक कोश ऐशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है। देखो उनका नया सूचीपत्र, भाग २, पृ० ६६५—६६७।

अनन्त के काल के विषय में एक और बात का भी ध्यान रखना चाहिए। लगभग ३०० वर्ष पुराने आचार्य कवीन्द्र के पुस्तकालय के सूचीपत्र में अनन्त-रचित **कण्वकण्ठाभरण** का एक कोश दर्ज है। देखो संख्या ५३२।

इस से प्रतीत होता है कि अनन्त ३०० वर्ष से कुछ पहले का ही होगा।

पृ० १०२—अनन्त के चार ग्रन्थों के नाम हम लिख चुके हैं। उन के साथ दो नाम और जोड़ने चाहिएं—

(५) कात्यायन-स्मार्त-मन्त्रार्थ-दीपिका। इस का कोश ऐशियाटिक सोसायटी में है। देखो, नवीन सूचीपत्र भाग २, संख्या ८४३।

(६) वेदार्थ-प्रदीपिका। पूर्वोक्त सूची पत्र का पृ० ६६४। यह कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ था, या नहीं, यह विचारणीय है।

पृ० १०४—मुरारिमिश्र

मुरारिमिश्र के विषय में निम्नलिखित बातें अधिक जाननी चाहिएं—

१—मुरारिमिश्र वेद-निघण्टु के लघुपाठ को उद्धृत करता है—

निघण्टुके सुखनामानि। वैशिंबाला। शतरा। शातपंता। शिल्गु। शेवृधं। स्यूमकं। मयः। सुग्म्यं। सुदिनं। शूषं। शुनं। शं। भेषजं। जलाषं। स्योनं। शेवं। शिवं। शग्मं। कदिति सुखस्य।

ये ते शतमित्यादि। शतसहस्रशब्दावत्र बहुत्वार्थौ। तथा च वेदनिघण्टुः—

उरु। तुवि। पुरु। भूरि। शश्वत्। विश्वं। परीणसा। व्यानशिः। शतं। सहस्रं। सलिलं। कुविदिति बहोः।[१]

१—पूना का हस्तलेख, पत्र ४ ख।

इनमें से पूर्वगण के पाठों में मुद्रित निघण्टुओं से कुछ भेद है।

पत्र १८ क पर लिखा है—

संकल्पात्मकं मनः अन्तःकरणेन्द्रियं। हृदयाधारा च बुद्धिरिति भेदः सांख्यदर्शने श्रुतावपि च।[1]

अर्थात्—सांख्यदर्शन और श्रुति में मन और बुद्धि का यह भेद माना गया है कि संकल्पात्मक मन है और हृदयाधारा बुद्धि है।

अन्नप्राशन मन्त्रों के आरम्भ में लिखा है—

अन्नप्राशनमन्त्रार्थः पदवाक्यप्रमाणतः।
उद्धृत्य भाष्यात् क्रियते वेदमिश्रस्य सूनुना॥[2]

पुनः प्रथम काण्ड के मन्त्रों की समाप्ति पर लिखा है—

श्रीमद्दीक्षितविश्वरूपतनयः श्रीवेदमिश्रः श्रियो
नाथं कायमनोगिरामनुगमैराराध्य कामप्रदं।
हेरंबं च शिवां शिवं च सततं नत्वा विरंचिं रविं
मन्त्रार्थं विवृणोति गृह्यविषये श्रद्धासमृद्ध्यै सतां॥
द्वितीयकांडस्य विविच्य भाष्यात्
श्रीवेदमिश्रैर्विधिवत्प्रयुक्तात्।
प्रारभ्यते मन्त्रविभागभाष्यं
मुरारिमिश्रेण समाससारम्॥[3]

अर्थात्—मुरारिमिश्र के पिता का नाम वेदमिश्र और पितामह का नाम दीक्षित विश्वरूप था।

यहां प्रथम श्लोक में वह शिव को नमस्कार करता है, अतः वह शैव प्रतीत होता है।

औपनायनमन्त्रार्थो यथोद्देशं प्रकाशितः।
वेदमिश्रेण भाष्यात्तु तस्मादाकृष्य शिष्यते॥

१—पत्र

२—पत्र ४६ ख, ५० क।

३—पत्र ५१ ख।

गृह्यप्रकाशान्महाभाष्यादुधृत्यावशिष्यते ।[1]

अर्थात्—वेदमिश्र का गृह्य-भाष्य जिससे सामग्री लेकर यह मन्त्र-भाष्य रचा गया है, एक महाभाष्य था ।

द्वितीय काण्ड के भाष्य के अन्त में पुनः लिखा है—

इति श्रीवेदमिश्रप्रणीतगृह्यप्रकाशाख्यान्महाभाष्यादुद्धृत्य मुरारिमिश्रकृतद्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।[2]

उस गृह्य-महाभाष्य का अब कोई अस्तित्व ज्ञात नहीं होता ।

तीसरे काण्ड के भाष्य के आरम्भ में लिखा है—

तृतीयकाण्डमन्त्रार्थः पदवाक्याभिधानतः ।
विविच्यते वेदमिश्रैर्नानाभाष्यानुसारतः ॥

अर्थात्—तृतीय काण्डस्थ मन्त्रों के अर्थ का विवेचन वेदमिश्र नाना भाष्यों के अनुसार करता है ।

पहले दोनों काण्डों के मन्त्रार्थ के विषय में लिखा है कि उनका मन्त्रार्थ वेदमिश्र के भाष्य से लिया जाता है, और इस काण्ड के मन्त्रार्थ के विषय में उसने लिखा है कि यह उस वेदमिश्र के भाष्य के आधार पर है, जो नानाभाष्यों के अनुसार है । इसका यह अभिप्राय है कि वेदमिश्र के गृह्यमहाभाष्यान्तर्गत मन्त्र भाष्य में नाना वेदभाष्यों की सहायता ली गई थी ।

पृ० १०६—हलायुध का मीमांसा सर्वस्व विहार और उड़ीसा के रीसर्च जर्नल जून-सितम्बर, सन् १९३१ के अङ्क मे प्रकाशित होना आरम्भ हो गया है ।

सामवेद की जैमिनीय शाखा का एक जैमिनीय-गृह्य-सूत्र है । उस के मन्त्र पाठ पर एक वृत्ति है । उस का एक हस्तलेख दयानन्द कालेज के लालचन्द-पुस्तकालय में है । उस में हमें इस वृत्ति के कर्ता का नाम नहीं मिला । इस वृत्ति का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

सकलभुवनैकनाथं श्रीकृष्णं नौमि हरिमुमां च शिवं
गुरुमपि सुब्रह्मण्यं गजाननं भारतीं भवत्रातम् ।

१—पत्र ५३ ख ।

२—पत्र ७५ क ।

प्रणिपत्य विष्णुमीड्यं विदुषोपि कृशांबुधीन् समस्तगुरून्
गृह्यागतमन्त्रवृत्तिः करिष्यते जैमिनेस्तमविनमसि त्वा ? ॥
अत्युक्तानि दुरुक्तानि यान्यनुक्तानि च स्फुटम् ।
समादधतु विद्वांसस्तानि सर्वाणि बुद्धिभिः ॥

इस वृत्ति में निम्नलिखित ग्रन्थ वा ग्रन्थकार उद्धृत हैं—

स्मृति	पृ० १,२
ब्राह्मण	१,२२
शौनक	२,३
आश्वलायन	२
श्रुति	२,२०,३५
भाष्य = निरुक्त	३,४५
यास्क	७,८,९
वाधूलक सूत्र	१३
पद्मपुराण	१४,१५
वराहपुराण	१६
योगवासिष्ठ	१९
सांख्य	२०
विष्णु स्मृति	२०

भवत्रात जैमिनीय संप्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य है। इस वृत्ति का कर्ता अपने प्रथम मङ्गल श्लोक में उस का स्मरण करता है। अतः वह उस के पश्चात् ही हुआ होगा।

इस वृत्ति का कर्ता कोई वैष्णव प्रतीत होता है। यह उस का अर्थ देखने से ज्ञात हो जाएगा—

त्रिपादूर्ध्व इति। वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्नरूपैस्त्रिपात्।[1]

इससे आगे वह पद्मपुराण के अनेक श्लोक उद्धृत करता है—

पृ० ४१ पर पितृतर्पण के विषय में वह लिखता है—

१—देवनागरी प्रतिलिपि पृ० १५।

जैमिन्यादयोपि त्रयोदश मन्त्रा निगदव्याख्याताः। जैमिनीः गृह्यसूत्रयोः कर्ता सहस्रशाखोपेत-सामवेदाध्यायी च। तस्मात्प्रधानाचार्यः। तं तर्पयामि प्रीतिभाजं करोमि। तलवकारादयो द्वादश एकैकशाखाध्यायिनः तांश्च तर्पयामि प्रीतिभाजः करोमीत्यर्थः।

अर्थात्—जैमिनि सामवेद का प्रधानाचार्य था। वह सहस्र-शाखाध्यायी था। तलवकारादि बारह एक-एक शाखा पढ़ने वाले थे। उनका तर्पण करता हूं।

जैसा पूर्वोक्त पाठ के देखने से पता लगता है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ अन्यत्र भी बहुत अशुद्ध है।

पृ० १४४—सायणोद्धृत उपवर्ष का जो श्लोक यहां लिखा गया है, वह ब्रह्माण्ड और वायु दोनों पुराणों में मिलता है। देखो उनका शाखा-प्रकरण।

पृ० १५०—(४) स्कन्द-महेश्वर अपनी निरुक्त भाष्य-टीका २।१३॥ में एक पदकार आत्रेय का स्मरण करते हैं।

पृ० २३१—वाक्यपदीय का प्रथम श्लोक तीसरे काण्ड के साधन समुद्देश के कर्त्रधिकार का श्लोक ११६ है।

———

परिशिष्ट २

प्राचीन भाष्यकारों के अमुद्रित भाष्यों का दिग्दर्शन

स्कन्दस्वामी का ऋग्वेद भाष्य

के ष्ठा नरः श्रेष्ठतमा य एकएक आयय।
परमस्याः परावतः ॥[1]

अत्र श्यावाश्वाख्यानके बृहद्देवतायां च पठितमितिहासमाचक्षते। श्यावाश्वस्य ब्रह्मचारिणः पिता आत्रेयोऽर्चनाना राज्ञो रथवीतेर्ऋत्विग्वा बभूव। स कदाचिद् यज्ञार्थं वृतः सपुत्र उपागतः। वितते यज्ञे रथवीतेर्दुहितरं कन्यकां ददर्श। तां पुत्रार्थं ययाचे। तं रथवीतिर्भार्यया सह संमंत्र्य प्रत्याचचक्षे—अनृषिर्नो न जामाता अयं च श्यावाश्वो ब्रह्मचारी न ऋषिरिति। स प्रत्याख्यातो वृत्ते यज्ञे स्वमाश्रमं जगाम। श्यावाश्वस्तु कन्यायामावृत्ताभिलाषः कदाचित् पात्रहस्तो भैक्षं चचार। भैक्षं चरन् राज्ञस्तरन्तस्य शशीयस्या भार्याया गृहं जगाम। तं शशीयसी नामगोत्रे पृष्ट्वा भर्त्रे तरन्ताय दर्शयामास। तेन चानुज्ञाता बहुविधं धनमजाविकं गवाश्वं चास्मै ददौ। तरन्तोऽपि धेनुकं दत्वा भ्रातुः पुरुमीढस्य सकाशं प्रेषयामास। गच्छ सौम्य सोऽपि ते दास्यतीति। गच्छते चास्मै शशीयसी पन्थानं कथयाञ्चकार अमुकेनामुकेन च पथा गच्छेति।

एतस्मिन्नेव काले हि राजर्षि तरन्तं द्रष्टुं तत्र मरुत आजग्मुः। तांस्तुल्यरूपांस्तुल्यवयस्कांश्च विस्मितः पृच्छति स्म।

1—ऋ० ५।६१।१॥

के यूयं स्थ। हे नरः मनुष्याकाराः श्रेष्ठतमा ये अतिशयेन प्रशस्या ये च आयय आयाताः स्थ। एकः एकः पृथक् स्वेन स्वेन अश्वेनेत्यर्थः। परमस्याः। परावत इति दूरनाम। परमं यद् दूरं तस्माद् दूरात् कुतोऽपीत्यर्थः।

अर्थात्—यहां पर श्यावाश्वाख्यान और बृहद्देवता में पढ़ा गया इतिहास कहा जाता है—श्यावाश्व ब्रह्मचारी का पिता अर्चनाना आत्रेय राजा रथवीति का ऋत्विक् था। एक समय वह सपुत्र यज्ञ के लिए आया और उसने राजा की कन्या को देखा। उस कन्या को उसने अपने पुत्र के लिए मांगा। राजा ने अपनी स्त्री की सम्मति लेकर इन्कार कर दिया। और कहा कि हमारा जामाता ऋषि ही होता है। आपका पुत्र ऋषि नहीं है। इस प्रकार इन्कार किए जाने पर यज्ञ के अन्त में वह अपने आश्रम को चला गया। श्यावाश्व उस कन्या को चाहता था। वह हाथ में पात्र लिए हुए भिक्षा करता हुआ राजा तरन्त की भार्या शशीयसी के घर गया। शशीयसी उसका नाम और गोत्र पूछकर उसको अपने पति के पास ले गई। पति की आज्ञा से उसे बहुत सा धन, बकरियां, भेड़ें, गाएं और घोड़े दिए। तरन्त ने भी गाएं देकर अपने भाई पुरुमीढ के पास भेजा कि वह भी तुम्हें कुछ देगा। उसे वहां जाने का रास्ता भी बताया गया। इतने ही में राजा तरन्त को देखने के लिए मरुत आए। उन समानरूप वाले समान अवस्था वाले मरुतों को देखकर विस्मित हुआ श्यावाश्व उन्हें पूछता है—

हे अत्यन्त श्रेष्ठमनुष्यो! आप कौन हो। आप पृथक्-पृथक् अपने-अपने घोड़ों से अत्यन्त दूर से आए हो।

जिस आख्यान का स्कन्द ने उल्लेख किया है, वह बृहद्देवता और किसी प्राचीन आख्यान-ग्रन्थ में था। सायण ने इस सूक्त के भाष्य की भूमिका में कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं, वे प्राचीन आख्यान-ग्रन्थ के हो सकते हैं। स्कन्द ने इन दोनों ग्रन्थों का भाव अपनी भाषा में लिखा है।

उद्गीथभाष्य

उत्तरं सूक्तं 'बृहस्पते प्रथमम्' इत्येकादशर्चं ज्ञानस्तावकं बृहस्पतिराङ्गिरसो ददर्श। उक्तं च देवतानुक्रमणौ ?..................

तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः।[1] इति।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

ऋ० १०।७१।१॥

बृहस्पते। शरीरमात्मना स्थित्वाऽन्तरात्मानमामन्त्रयते मन्त्रदृक्। बृहस्पते मदीयान्तरात्मन् प्रथमं मुख्यं प्रधानमर्थज्ञानम्। ऋग्यजुस्सामादिलक्षणायाः अर्थज्ञानशून्यायाः सकाशात्। यच्चाग्रम्। अग्रशब्दोऽत्रादिवचनः आभिभूतश्च। वाचः प्रवृत्तौ निमित्तभूतश्चेत्यर्थः। यच्च प्र पैरत प्रेरयन्ति शब्दोच्चारणकाले येन सहोच्चारयन्ति ब्राह्मणादयः पुरुषाः शब्दार्थज्ञानयोर्नित्यसम्बन्धत्वात्। नामधेयं ऋग्यजुस्सामादिलक्षणं नाम दधाना· स्वमुखे मनसि वा धारयन्तः। उच्चारयन्त इत्यर्थः। यच्च येषां नाम्नां सकाशात् श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यम्। यच्चारिप्रमासीदपापं सदा भवति। पापापनोदमित्यर्थः। उक्तं च भगवता वासुदेवेन—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।[2] इति।

प्रेणा प्रेम्णाऽतिप्रियत्वेन हेतुना तत् कार्यकारणस्वरूपज्ञानमेषां नाम्नां सम्बन्धिनि गुहा गूढे संवृत्ते मध्यदेशे निहितमभिधेयत्वेनावस्थापितं कारणात्मना आविः प्रकाशम्। तव भवत्विति शेषः।

उक्तविशेषणविशिष्टं कार्यकारणविषयं सम्यग्ज्ञानं तवोत्पद्यतामित्यर्थः।

१—यह पाठ बृहद्देवता ७।१०९॥ में मिलता है।

२—भगवद्गीता ४।३८॥

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने अन्तरात्मा को सम्बोधित करके कहता है कि हे अन्तरात्मन् तुझे हृदय-गुहा में स्थित नामों के अर्थों के ज्ञान का प्रकाश हो। वह अर्थज्ञान सर्वप्रधान है। वाणी के उच्चारण में सहायक है। जिसके जाने विना नामों का उच्चारण असम्भव है, जो नामों से श्रेष्ठ और पाप-रहित है। जो प्रेम से हृदय की गुफा से प्रकाशित होवे।

वेङ्कटमाधव का प्रथमभाष्य

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानो विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम् ।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य ॥

ऋ० १० । ५ । ५ ॥

सप्त स्वसॄरादित्यान्। दीप्तिरारोचमानाः कामयमानो विद्वान्। समुद्रोदकाद् उद्धृतवान्। सर्वेषामेव दर्शनार्थम्। कमिति पूरणम्। अन्तश्च तानि यमितवानन्तरिक्षे। प्रत्न इच्छन्। प्रायच्छन्। पूष्णोऽस्याः पृथिव्याः पृश्निवर्णं प्रायच्छदिति ॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कंभ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥६॥

कामजेभ्यः क्रोधजेभ्यश्चोद्धृताः—पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डपारुष्यं वाक्पारुष्यमर्थदूषणमिति सप्त मर्यादाः। कवयः कृतवन्तः। तासामेकमेव पापवानभिगच्छति पुरुषस्तस्य मनुष्योत्तम्भकोऽग्निः। समीपभूतस्य वायोर्नीले रश्मीनां विसर्गे ऽन्तरिक्षे मध्यं उदकेषु तिष्ठति। पापयुक्तस्याप्यग्निस्तत उत्तम्भनं भवतीति ॥[1]

अर्थात्—यजमानों से कामना किया हुए प्रदीप्त विद्वान् अग्नि ने लोगों के देखने के लिए सूर्य की सात रश्मियों को समुद्र से ऊपर ले जाकर अन्तरिक्ष में स्थापित किया। और पृथिवी को उज्ज्वलरूप दिया।

काम और क्रोध से उत्पन्न हुए दोष, मद्यपान, जुआ, स्त्रियां, मृगया, दण्ड-

---

१—इन दोनों मन्त्रों के भाष्य का पाठ कुछ अधिक अशुद्ध है।

पारुष्य, वाक्पारुष्य और अर्थदूषण, ये सात मर्यादाएं विद्वानों ने स्थिर की हैं। जो पापी मनुष्य उनमें से एक को भी करता है अग्नि उसको दण्ड देता है।

अग्नि का स्थान वायु, सूर्य रश्मि, अन्तरिक्ष और जलों में है। इसलिए तत्तत्स्थानों में गए हुए को भी वह दण्ड दिए विना नहीं छोड़ता।

रावण-भाष्य

**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्॥**
१०।१२६।१॥

अथैतस्य प्रश्नोत्तरस्य प्रतिपादिकां श्रुतिमाह नासद् इति। अनया सृष्टेः प्राङ् निरस्तसमस्तप्रपञ्चलयावस्था निरूप्यते। प्रलयदशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छशविषाणवन्नीरूपाख्यं नासीत्। नहि तादृशात्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति। तथा नो सदासीत्। परमार्थसतः परमात्मनोऽन्यत्सदस्तीत्युच्यमाने द्वैतत्त्वप्रसङ्गः। नापि व्यवहारसत्। अग्रे व्यवहाराभावस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तस्मादुभयविलक्षणमनिर्वाच्यमेवासीदित्यर्थः। अथ व्यावहारिकसत्वं निषेधति—तदानीमिति। 'लोका रजांस्युच्यन्ते' इति यास्कः। अत्र सामान्यापेक्षमेकवचनम्। एवं व्यवहारसत्ता पृथिव्यादीनामभावादित्यर्थः। तथा व्योमान्तरिक्षं तदपि नासीत्। पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते। व्योम्नः परस्ताद्द्युलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः। अनेन ब्रह्माण्डमपि निषिद्धं भवति। यत एतद्भासमानं भूतजातं पूर्वं नासीत्। किन्तु शुक्तिकारजतवन्मध्ये एवोत्पन्नमिति श्रुत्या निरूपितम्। नत्वासीदिति धातोस्तदानीमित्यव्ययस्य च भूतकालवाचित्वाद् व्योमादीनामसम्भवेपि किञ्चित्काल आसीदिति चेन्न। "आनीदवातम्" इति श्रुत्या तस्यापि निषेधात्। अतः सकलमपि दृश्यजातं प्राङ्निरूपितसदसद्विलक्षणोपादानकं

प्रातिभासिकमिति पर्यवसन्नम् । अथैतस्य ज्ञानैकनाश्यत्वेन प्रातिभासिकत्वं दृढीकुर्वन्नाह—'किमावरीव' इति । प्रागुक्तं दृश्यजातं शर्मन्निति शर्मण्यबाधिते ब्रह्मणि किमावरीवः किमावरक भवति वा नेत्यर्थः । अनेन यत्सदसद्विलक्षणमासीत्तत्स्वाश्रयाऽव्यामोहकमित्युक्तम् । यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य गहनं गम्भीरमक्षोभ्यमम्भस्तेन मायया रचितमम्भोमध्य एवोत्पन्नं सत्कुहकस्यावरकं भवति वा नेत्यर्थः ।

अर्थात्—इस प्रश्नोत्तर की प्रतिपादक 'नासद्' यह श्रुति प्रमाण है । इस में सृष्टि के पूर्व की समस्त प्रपञ्चों से हीन प्रलयावस्था का निरूपण किया गया है । प्रश्न होता है कि क्या प्रलयावस्था में स्थित इस भावरूप जगत् का मूल कारण असत्, जो शशशृंग के सदृश अत्यन्ताभाव रूप है, वह था ? अथवा सर्वावस्था में विद्यमान परमात्मा से पृथक् कोई सत् था ? या व्यवहार दशा में सद् रूप कोई वस्तु थी ? । उत्तर—अभाव भाव का कारण नहीं हो सकता और न ही परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी सद्वस्तु ही हो सकती है । क्योंकि परमात्मा को अद्वैत कहा गया है । इस की सत्ता में परमात्मा अद्वैत नहीं रहता । तथा व्यवहार दशा में भी कोई सद्वस्तु कारण नहीं हो सकती है । कारण, कि आगे जाकर व्यवहार दशा को भी अभाव ही कहा जाएगा । इस लिए अब यह समझना चाहिए कि प्रलयावस्था में जगत् का मूल कारण असत् अथवा सत् से विलक्षण अवश्य कोई तीसरा ही कारण था । 'तदानीं' इस से व्यवहार दशा में सद् वस्तु का खण्डन है । उस समय न तो पृथिवी थी, न अन्तरिक्ष था, और न ही द्युलोक । फलतः यह सारा ब्रह्माण्ड ही न था । हां सिप्पी में रजत की भांति श्रुति में उत्पत्ति जरूर कही गई है । भूतकालिक 'आसीत्' क्रिया से और वर्तमानकाल बोधक 'तदानीं' अव्ययपद से काल की सत्ता अवश्य सिद्ध होती है । तो काल ही कारण क्यों न माना जाय । इस का उत्तर 'आनीदवातम्' श्रुति से मिल जाता है । तात्पर्य, उक्त सदसद् वाद से विलक्षण आभासरूप कोई तीसरा ही कारण चराचर जगत् का उपादान कारण है । पहले यह कहा गया है कि जगत् का कारण प्रातिभास है परन्तु आभास अज्ञानजन्य होता है । और ज्ञान पर परदा पड़े विना

अज्ञान नहीं हो सकता। अतः हम पूछते हैं कि क्या यह सकल जगत् ब्रह्म में किसी आवरण से छिपा था, या नहीं? इस से तो यह सिद्ध होता है कि जैसे ऐन्द्र-जालिक अपनी झूठी माया से पानी उत्पन्न कर के उस से छिप सा जाता है परन्तु वह उसका यथार्थ आवरण नहीं कहा जाता, इसी तरह यह आभास भी अपने आश्रय ब्रह्म का सन्देहजनक है।

मुद्गल भाष्य

पञ्चमे मण्डले त्वामग्ने हविष्मन्त इति सप्तर्चं नवमं सूक्तम्। आत्रेय ऋषिः। सप्तमीपञ्चम्यौ पङ्क्ती। शिष्टा अनुष्टुभः। अग्निर्देवता।

त्वामग्ने हविष्मन्तो देवं मर्तास ईळते।

मन्ये त्वा जातवेदसं स हव्या वक्ष्यानुषक् ॥ ५।९।१॥

हे अग्ने त्वां देवं दीप्यमानं हविष्मन्तो होमद्रव्यसमेता मर्तासो मर्त्या ईलते स्तुवन्ति। अहं च जातवेदसं जातं वेदो धनं यस्यासौ जातवेदाः तमेवंविधं त्वा त्वां मन्ये स्तौमि। स त्वं हव्यवाहनसाधनानि हवींषि आनुषक् निरन्तरतयाऽऽनुषक्तं यथा तथा वक्षि वहसि।[1]

अर्थात्—यह वेदान्तर्गत पांचवें मण्डल का सात ऋचाओं का नवां सूक्त है। इसका ऋषि आत्रेय, पांचवीं सातवीं ऋचाओं का छन्द पंक्ति और शेष का अनुष्टुप् और अग्नि देवता है।

हे अग्ने यह यजमान लोग हवन-सामग्री लिए दीप्ति गुण वाले आपकी स्तुति करते हैं। परन्तु मैं धन बल युक्त की स्तुति करता हूं। वह देवताओं के लिए सदा हवियां ले जाया करते हैं।

1—ऋ० अष्ट ४ पत्र १ख।

आनन्दबोधभट्ट-भाष्य

अग्निप्रकरणं समाप्तं । अथ सौत्रामणी त्रिभिरध्यायैः प्रक्रियते । अग्न्यंगत्वात् सौत्रामण्यनंतरमुपक्रमः । तत्र प्रजापतिर्यज्ञमसृजतेत्युपक्रम्य सौत्रामाणीमित्यादिना विस्तरेण प्रतिपाद्यते । स एतं महाक्रतुमपश्यत् सौत्रामणीमिति श्रुतेः । सौत्रामण्याः प्रजापति ऋषिः । यथापरमिदं भैषज्यार्थं अश्विनौ च सरस्वती च सौत्रामणीं ददृशुरिति । अतो अश्विनोः सरस्वत्याश्चार्षमिति । तत्र सुरा संधीयते ।

स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन मधुमतीं मधुमता सृजामि सꣳ सोमेन । सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥१॥

स्वाद्वीं त्वेति । सुरादेवत्यानुष्टुप् । सोमोस्यादीनि चत्वारि सौराणि यजूंषि । स्वाद्वीं त्वा । स्वादु रुचिकरं तेन स्वादुना मिष्टेन स्वाद्वीं स्वादुरसोपेताम् । तीव्रेण । तीव्रशब्दः पटुवचनः शीघ्रमदजनकः । तेन तीव्रेण पटुरसेन तीव्रां । अमृतेन अमृतरसेन अमृताम् । मधुमतीं मधुररसोपेतां मधुमतीं सुरां त्वां सोमेन सोमरसेन सꣳसृजामि । यतस्त्वं सोमोऽसि । अतस्त्वां ब्रवीमि । सोमस्त्वमश्विभ्यामश्विनोरर्थे पच्यस्व । अत्र पाको विपरिणामः । तथा सरस्वत्यै सरस्वत्यर्थे पच्यस्व । इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।[1]

अग्निचयन प्रकरण की समाप्ति के अनन्तर अब तीन अध्यायों में सौत्रामणी का प्रारम्भ किया जाता है । क्योंकि अग्निचयन सौत्रामणी का अङ्ग है अतः उसका व्याख्यान पहले करना समुचित था । सौत्रामणी के ऋषि प्रजापति अश्वि और सरस्वती हैं । उस में सुरा का सन्धान किया जाता है । इस मन्त्र में देवता सुरा है, छन्द अनुष्टुप् और चार सौर यजु हैं । स्वादु, रुचिकर, कटु, चरपरी होने से शीघ्र मदकारी, अमृत तुल्य मीठी सुरा को सोमरस के सदृश

१—काण्वसंहिता दशक ३पत्र १ ख, उत्तरार्ध का प्रथमाध्याय ।

समझता हूं। नहीं, नहीं यह साक्षात् सोम ही है। इस लिये तू अश्वि, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र के लिए पाक है।

कालनाथकृत यजुर्मञ्जरी

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥

द्वितीयं जुहोति। अत्र सूर्यः परापररूपेणावस्थितः स्तूयते। उदयकालादारभ्य तावदपररूपेण स्तूयते। चित्रमिति क्रियाविशेषणम्। चित्रं यथा स्यात्तथा उदगात्। आश्चर्यं स्वकीयेन ज्योतिषा शार्वरं तमोऽपहत्यान्येषां च ज्योतिरादायोद्गच्छति। देवानां रश्मीनामनीकं मुखं। यच्चक्षुर्नेत्रं मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। उपलक्षणं चैतत सर्वस्यापि सदेवमनुष्यस्य जगतः। आदित्योदये हि रूपाण्यवव्यज्यन्ते एतन्मण्डलाभिप्रायेण······सकलिङ्गतयोच्यते। द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आप्राः·········

उदयसमनन्तरमेव स्वकीयेन ज्योतिषा पूरितवान्। अथ पररूपेण स्तौति। पूरुषपरत्वेनोच्यते। जगतो जङ्गमस्य तस्थुषश्च स्थावरस्य च मध्यवर्ती सूर्य आत्मा। स्वरूपमात्मत्वेनोपास्य इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—'यमेवमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः। स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म इति। एवं तावदधियज्ञगतोऽप्ययं मन्त्रोऽधिदैवमाचष्टे। अस्य मन्त्रस्याङ्गिरस ऋषिः सूर्यो देवता त्रिष्टुप् छन्दः। व्रीहितंडुलानां पयसाक्तानां शतसहस्रं जुहुयात्। सर्वाति·········महाव्याहृतिवत्कर्म।[1]

अर्थात्—इस मन्त्र से दूसरी आहुति दी जाती है। सूर्य के उदय की महिमा और आत्मभाव का इस में वर्णन है। अहो आश्चर्य है सूर्य रात्रि के अन्धकार को दूर कर समस्त तारा गणों के प्रकाश को ले उदित हुआ है। रश्मियों का

१—पत्र १३।

पुञ्ज है। मित्र, वरुण और अग्नि का ही प्रकाशमय नेत्र नहीं है वरन् सारे ही देव मनुष्यमय संसार का नेत्र है। इस के उदित होते ही समस्त पदार्थों का प्रत्यक्ष हो जाता है। पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक और द्यु लोक प्रकाश से पूरित हो जाते हैं।

यह ही सूर्य स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टि का आत्मा है। श्रुति भी आदित्य में रहने वाले पुरुष को इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्म के भाव से प्रतिपादन करती है। अतः यज्ञ विषयक होता हुआ भी यह मन्त्र अधिदैव सम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादक है। इस का ऋषि अङ्गिरा, देवता सूर्य और छन्द त्रिष्टुप् हैं। पायस से एक लक्ष आहुतियां देकर शेष सारा कर्म महाव्याहृति होम के समान समझना चाहिए।

मुरारिमिश्र का पारस्कर मन्त्र-भाष्य

अयाश्चाग्ने ऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि।
अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजम्॥

अयाश्चाग्न इत्यादि माध्यन्दिनीयान्तर्गतः शाखान्तरीयो मन्त्रः। माध्यन्दिन-शाखायाः कर्मणि गृहीतः। अस्यार्थो विविच्यते। प्रथमप्रसिद्धत्वात्। हे अग्ने त्वं अयाः असि। भवसि। या प्रापणे। न यातीत्ययाः। नित्यं सर्वत्र बाह्याभ्यन्तरेषु स्थितः। त्वमग्ने द्युभिः [यजुः ११।२७॥] इत्यादिश्रुतेः। यद्वा। अय गतौ। अयते सर्वत्र गच्छति। सर्वं जानाति वेत्ययाः। असुन्। अग्निः प्रियेषु धामसु [यजुः १२। ११७॥] इत्यादि श्रुतिः। यद्वै जात इद‌ꣳ सर्वमयुवत तस्माद्यविष्ठः [शत० ७।५।२।३८॥] इति। धामानि त्रीणि भवन्ति।[1] नामानि स्थानानि तेजांसीति च नैरुक्ताः। यदि वा। अयः शुभावहो विधिः।[2] तत्प्रतिपादकः। कथंभूतः। अनभिशस्तिपाः। न अभिशस्तिं पातीति अनभिशस्तिपाः। शंसु प्रमादे।

१—तुलना करो निरुक्त ६। २८॥

२—अमरकोश १। ४। २७॥

शंसु हिंसायां। अभिलक्षीकृत्य सर्वतोभावेन शंसनं प्रमादजोऽधर्मोऽभिशापोपवादः। सोऽभिशस्तिः। अभिशंसनं हिंसनं वाऽभिशस्तिः। स्त्रियां क्तिः। न अभिशस्तिरनभिशस्तिः। तया विशिष्टं कृत्वा पातीति अनभिशस्तिपाः। यदि वा। न विद्यते अभिशस्तिः शापो येषां ते अनभिशस्तयः। तान् पाति रक्षतीति। श्रुतिरपि—अनाधृष्टमसि [यजु० ५। ५॥] इत्यादि। अग्निरूपेणाज्यमुच्यते। हे वह्निरूपाज्य आज्यैः शपथकारिभिः त्वं अनाधृष्टं अनाधर्षितं अनुल्लंघनीयं भवसि।

पूर्वैः इदानींतनैरपि। अनाधृष्टं अनुल्लंघनीयं। किं च। देवानां तेजो भवसि। अनभिशस्तिपाः। अभिपूर्वः शंसतिर्गर्हायां वर्तते। न विद्यते अभिशस्तिर्यस्य तां पातीति। अभिशस्तेः परिरक्षतीत्यभिशस्तिपाः। अनभिशस्ते स्थाने स्वर्गे नयतीत्यनभिशस्तेन्यं तत् अनभिशस्तेन्यं। अंजसा प्रगुणेन मार्गेण यथा स्वरूपं। सत्यं नित्यं ब्रह्म। उपगेषं। उपगच्छेयमहं। अनेनैव सत्येन। स्विते मा धाः। सु इते साधुगते कल्याणवति लोके। नाके। मा मां। अधाः। निधेहि धारय॥ हे अग्ने सत्यं तथ्यं। इत् एवार्थे। सत्यमेव। अयाः। शुभावहः असि। भवसि। पुनर्वचनं दार्ढ्यार्थं। पुनरप्ययाः कर्मप्रतिपादने समर्थः। कुशलः। नोऽस्माकं यज्ञं यज्ञसंपादनीयं वस्तु हविः पुरोडाशादि। वहासि वहसि। वर्णागमः। डाच् वा। देवेभ्यः प्रार्थयसि तानित्यर्थः। पुनः पुनर्वचनं—भूयांसमर्थं मन्यन्ते। अग्निर्ज्योतिर्वत्। अयाः सुमनाः प्रसन्नो भूत्वा नोऽस्मभ्यं धेहि देहि। भेषजं सुखोत्पादकमौषधमिष्टलक्षणं। भेषृ भये। भेषन्ति भेषन्ते वा। बिभ्यत्यस्मादिति भेषः श्वासजनको रोगो ऽधर्मादिस्तं जूनयतीति भेषजं। अथवा अयवयेत्यादि गत्यर्थे दंडको धातुः। अयाः। यज्ञं प्रति निष्पादनाय गन्ता। कर्मफलस्य साक्षित्वेन पाता वा।

अर्थात्—यह मन्त्र माध्यन्दिनीय शाखा की अवान्तर शाखा में आया

हुआ माध्यन्दिनी शाखा के कर्म में प्रयुक्त हुआ है। अयाः शब्द को भिन्न भिन्न धातुओं से बना हुआ मान कर भिन्न २ अर्थ होते हैं। हे अग्निदेव ! तुम सब जगह जाने वाले वा सब कुछ जानने वाले हो। अथवा हे अग्निदेव ! तुम (सब के लिए) कल्याणकारक हो। हे अग्निदेव ! तुम हिंसारहित आचरण से (सब की) रक्षा करने वाले हो। अथवा हे अग्निदेव ! जो शापरहित जीव हैं, उन की तुम रक्षा करने वाले हो। अथवा हे अग्निदेव ! तुम निन्दारहित जीवों की रक्षा करने वाले हो। हे अग्निदेव ! तुम सचमुच कल्याणकारक हो। तुम ही हमारे यज्ञ के पुरोडाश आदि पदार्थों को इष्टदेवताओं के पास पहुंचाते हो। आप प्रसन्न होकर हम सुखोत्पादक औषध देवें।

वेङ्कटेश भाष्य

सावित्राणि जुहोति प्रसूत्यै चतुर्गृहीतेन जुहोति चतुष्पादः पशवः पशूनेवाव रुन्धे चतस्रो दिशो दिक्ष्वेव प्रति तिष्ठति छन्दाꣳसि देवेभ्योपाक्रामन्न वोऽभागानि हव्यं वक्ष्याम इति तेभ्य एतच्चतुर्गृहीतमधारयन् पुरोनुवाक्यायै याज्यायै देवतायै वषट्काराय यच्चतुर्गृहीतं जुहोति छन्दाꣳस्येव तान्यस्य प्रीणाति देवेभ्यो हव्यं वहन्ति यं कामयेत ॥[1]

उखां संभरतः सावित्रहोमं विदधाति-सावित्राणीति। सावित्राणि जुहोति सावित्रैर्मन्त्रैरेकामाहुतिं जुहोति। मन्त्रबहुत्वाभिप्रायं बहुवचनम्। प्रसूत्यै अनुज्ञानाय सावित्रानुज्ञानं यथा स्यादिति। चतुर्गृहीतेनेत्यादि। गतम्।

छन्दांसीति। गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुब्रूपाणि वः युष्माकं भागानि वयं हव्यं च वयं न वक्ष्याम इति देवेभ्यः सकाशादपाक्रामन्। तेभ्यः छन्दोभ्य एतच्चतुर्गृहीतमधारयन् छन्दोर्थं पर्यकल्पयन्। किं पुरोनुवाक्यादिभ्यश्च[तुर्भ्यः] यच्चतुर्गृहीतं तद्

१—तै० सं० ५।१।१॥

गायत्र्याद्यर्थमधारयन् । सर्वत्र हि पुरोनुवाक्यादिभ्यश्चतुर्गृहीते इदमिदानीं छन्दोभ्य इति। तस्मात् चतुर्गृहीतस्य होमः छन्दसां प्रीणनार्थं भवति । तानि च प्रीतान्यस्य यजमानस्य देवेभ्यो हव्यं वहन्ति ।

यं कामयेतेत्यादि । यं यजमानः······पापीयान् स्यादित्यध्वर्युः कामयेत······।

अर्थात्—'सावित्राणि' इत्यादि मन्त्रों से उखासम्भरण में सावित्र होम विधान है। सावित्र मन्त्र बहुत हैं। उन सब से सवितृदेव की अनुमति के लिए एक २ आहुति दी जाती हैं। 'चतुर्गृहीतेन' से लेकर 'प्रति तिष्ठति' तक का व्याख्यान हो चुका है। देवताओं के भाग और हवि को हम नहीं ले जाएंगे, यह कह कर गायत्री आदि चार छन्द देवताओं के समीप से भाग गए। तब उन छन्दों के निमित्त देवताओं ने चतुर्गृहीत हवि को दिया। क्या यह वही हवि है जो पुरोनुवाक्या आदि चारों को दी जाती थी। उत्तर-हां सर्वत्र चतुर्गृहीत हवि का जो पुरोनुवाक्या आदि के लिए विधान किया गया है, वह अब छन्दों की प्रसन्नता के लिए जानना चाहिए। चतुर्गृहीत हवि से प्रसन्न हुए छन्द यजमान की दी हवियों को देवताओं के पास ले जाते हैं। यजमान जिस को अध्वर्यु द्वारा यह पापी होवे ऐसी कामना करे········।

मयूरेश का षडङ्गरुद्रभाष्य

अथ रुद्रांगत्वेन हरिहरयोरभेदं दर्शयितुं पुरुषसूक्तं व्याख्यास्यामः।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिꣳ सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दो बहुत्ववाची । संख्यावाचकत्वे सहस्राक्ष इति विरोधः स्यात् । नेत्रसहस्रद्वयेन भाव्यम् । ततः सहस्रमसंख्यातानि शीर्षाणि यस्य सः । 'शीर्षंश्छन्दसि [६।१।६०॥] इति शीर्षशब्दस्य शीर्षन्नादेशः । शीर्षग्रहणं सर्वावयवोपलक्षणम्

यानि सर्वप्राणिनां शिरांसि तानि सर्वाणि तद्देहान्तः पातित्वात्तस्यैवेति सहस्रशीर्षत्वम्। एवमग्रेपि। सहस्राक्षः सहस्रमक्षीणि यस्य सः। अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षकम्। सहस्रपात् सहस्रं पादा यस्य। 'संख्यासुपूर्वस्य [५।३।१४०]' इति पादस्यांत्यलोपः। पादग्रहणं कर्मेन्द्रियोपलक्षकम्। स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डलोकरूपां सर्वतस्तिर्यगूर्ध्वमधश्च। स्पृत्वा व्याप्य। दशांगुलपरिमितं देशम्। अत्यतिष्ठद् अतिक्रम्यावस्थितः। दशांगुलमित्युपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः। यद्वा। नाभेः सकाशाद्दशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः। नाभित इति कुतो लभ्यते। कतम आत्मेत्युपक्रम्य योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिरिति श्रुतेः॥ विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मफलोपभोगाय अंतर्यामिणो नित्यं तृ(त)त्वेन। तदुक्तम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ इति
[ऋ०१।१६४।२०॥]

स पुरुषोत्र देवता। तथा च श्रुतिः—

इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योयं पवते सोस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुष [शत० १३।६।२।१॥] इति॥

अर्थात् —रुद्राङ्ग होने के कारण हरि तथा हर में अभेदभाव को दर्शाने के लिए पुरुष-सूक्त का व्याख्यान किया जाता है।

मन्त्रगत सहस्र शब्द को बहुत अर्थ का ही बोधक मानना चाहिए। यदि सहस्रसंख्या वाचक मानें तो 'सहस्राक्षः' इस में विरोध आता है। क्योंकि जिस के सहस्र शिर होंगे उस की दो सहस्र आंखें होनी चाहिएं। इस लिए सहस्रशीर्षा शब्द का यह अर्थ हुआ कि जिस के सहस्र अर्थात् असंख्य शिर हैं, वह अगणित शिरों वाला। यहां पर शीर्ष शब्द सर्वावयवों का सूचक है। समस्त प्राणियों के जो शिर हैं, वे सब उसी पुरुष के हैं। क्योंकि वह सब के अन्दर विद्यमान रहता है। इसी प्रकार आगे की भी संगति होती है। सहस्राक्षः, असंख्य

आखों वाला। अक्षिशब्द समस्त ज्ञानेन्द्रियों को बोधित करता है। सहस्र-पात्, असंख्य पादों वाला। पादशब्द कर्मेन्द्रियों को बताता है। इस प्रकार का वह पुरुष पृथ्वी अर्थात् ब्रह्माण्डलोकरूप को तिर्यक्, ऊर्ध्व, तथा अधः समस्त मार्गोंसे व्याप्त कर के 'दशांगुलम्' अर्थात् ब्रह्माण्ड के बाहर तक भी सब ओर से व्याप्त कर के स्थित है। अथवा नाभि से ऊपर की ओर दश अंगुल परिमाण के स्थान तक व्याप्त होकर ज्योति स्वरूप से हृदय में स्थित है।

माधव साम-विवरण

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि॥

साम। १।१॥

भरद्वाजस्यार्षम्। हे अग्ने आयाहि आगच्छ। किमर्थं पुनरागच्छामि। उच्यते। वीतये। भक्षणायेत्यर्थः। कस्य? सामर्थ्याद्धविषाम्। प्रत्यव गृणानः स्तूयमानः। हव्यदातये। हविर्दानार्थमित्यर्थः। नि होता। नीत्ययमुपसर्गः सत्सीत्याख्यातेन सम्बन्धयितव्यः। होता आह्वाता। केषाम्? देवानामित्यध्याहारः। निषत्सि निषीदेत्यर्थः। क्व पुनर्निषीदामि। उच्यते। बर्हिषि। यदास्तीर्णं बर्हिस्तत्रेत्यर्थः।

अर्थात्—इस मन्त्र का ऋषि भरद्वाज है। हे अग्नि तुम हमारे यहां आओ। यदि पूछो कि किस लिए आऊं तो उत्तर यही है कि हवियों के खाने के लिए। हम आपकी स्तुति करते हैं। हमें हवियां दीजिए और हमारे बिछाए हुए दर्भों पर आकर बैठिए।

विवरण में जैसा पाठ था तदनुसार ही अर्थ किया गया है। विवरण के पाठ में कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है।

जैमिनिगृह्यमन्त्रवृत्ति

इदं भूमेर्भजामह इदं भद्रं सुमङ्गलम् ।
परा सपत्नान् बाधस्वान्येषां विन्दते धनम् ॥

मन्त्र ब्राह्मण २।४।१॥

अथ भूम्यारम्भजयः । प्रजापतिरनुष्टुप्छन्दः । भूमिर्देवता । इदं भूमेरिति । एकवाक्यताप्रसिद्ध्यर्थं यत्तच्छब्दावध्याहार्यौ । हे भूमे तव भूमेः पृथिव्याः एकदेशं इदं भागं भजामहे । देवयजनार्थमिति शेषः । यदिदं भागं भद्रं भजनीयं सुमङ्गलं कल्याणं च भवेत् भजताम् । अथवा अस्मिन् भूभागे आरब्धं कर्म इदं करिष्यमाणं भद्रं सुमङ्गलं च भवेत् । परा सपत्नान् बाधस्व । सा त्वं सपत्नान् परा बाधस्व । येऽन्येषामस्माकं च धनं पार्थिवं हिरण्यादि-कर्मफलं वा विन्दते विन्दन्ते अपहरन्ति तांश्च पराबाधस्व विनाशयेत्यर्थः ।

अर्थात्—हे भूमे तेरे इस [वेदी के] देश में हम यज्ञ के लिए भाग लेते हैं । यह तेरा देश भद्र और कल्याण वाला है । अथवा इस वेदी प्रदेश में आरम्भ किया गया वा किया जाने वाला कर्म भद्र और कल्याण वाला हो । जो हमारा वा दूसरों का धनादि हरण करते हैं उन्हें नाश करो ।

वाररुच निरुक्त समुच्चय

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥[1]

[यजु० १३।३॥]

सर्वमन्त्रव्याख्याने प्रथममार्षकथनं कर्तव्यम् । मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्त. इति । अत्र प्रदर्शितम् । नकुलो नाम ऋषिः । आदित्यो देवता । तथा हि शौनकर्षिदर्शनम्—

1— यह मन्त्र ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा में भी था ।

यस्य वाक्यं स ऋषिः ।[१] या तेनोच्यते सा देवता । इति ।

घर्माभिष्टवनेऽस्य विनियोगः । परोक्षकृतोऽयं विनियोगः । परोक्षकृतोऽयं मन्त्रः प्रथमपुरुषयोगात् ।

ब्रह्म । नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्त-समयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः । तथा हि—

तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च [निरुक्त १।१२॥] इति ।

बृह बृहि वृद्धौ । इति । अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति मनिन् प्रत्ययान्तस्य एतद्रूपम् । सर्वतः परिवृद्धत्वात् ब्रह्मशब्देनादित्य-मण्डलमुच्यते । सर्वस्य हि भुवनस्य तदाधाररूपे स्थितिरित्युप-निषत्सु गीयते—मण्डले हीदं जगत्प्रतिष्ठितमिति ।

जज्ञानं इति जायमानं उत्पद्यमानमित्यर्थः । प्रथममिति मुख्य-मुच्यते । अन्येषां तेजसाम् । तथा च स्मरणम्—

ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यः तेजसामिव ।

शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ इति

पुरस्तात् पूर्वतः । कस्य । सामर्थ्यात् जगदुत्पत्तेः । अथवा प्रत्यहमुदयास्तमङ्गीकृत्याह पुरस्तात् । पूर्वस्यां दिशि । पूर्वमेव वा सर्वप्राणिनामुत्थानात् । वि इत्ययमुपसर्ग आवः इत्याख्यातेन सम्बध्यते । कुत एतत्—

अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ।

इत्यभियुक्तोपदेशात् ।

न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः [निरुक्त १।३॥] इति निरुक्तभाष्यकारवचनाच्च । सीमतः । सीमशब्दः सर्वादिषु पठितः । विभक्तिव्यत्ययेन सप्तम्येकवचनं द्रष्टव्यम् । कुत एतल्लभ्यते । सुपां

१—ये दोनों सूत्र कात्यायनकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा प्रकरण में मिलते हैं । देखो २।४।५॥ अन्य अनेक ग्रन्थकार भी इन्हें शौनक के नाम से ही उद्धृत करते हैं । इसका कारण जानना चाहिए ।

सुप आदेशो भवतीति वैयाकरणस्मरणात्।

यथार्थे विभक्तीः सन्नमयेत् [निरुक्त २।१॥] इति निरुक्तकारवचनाच्च। सिम् अस्मिन् जगति। अथवा सीमशब्दः सीमापर्यायः। अस्मिन् पक्षे आकारो मर्यादार्थ आहर्तव्यः। आ सीमतः सर्वस्य सीमारूपेणावस्थितो लोकालोकपर्वतः। आ लोकालोकपर्वत इत्यर्थः। सुरुचः रश्मयः। सुरोचमानत्वात् सुदीप्तान् रश्मीन् सहस्रसंख्यातान्। वेनः। सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम् इति लिङ्गव्यत्ययः। वेनं। वेनतिः कान्तिकर्मा। कान्तार्थः। कस्य। सर्वस्य भूतजातस्य। आवः वृञ् वरण इत्यस्य लिङि छान्दसमेतत् रूपम्। विशब्दस्यात्र समन्वयः व्यवृणोत्। विवृतवान् विस्पष्टवानित्यर्थः। न केवलं रश्मिविसर्गमेवाकरोत्। किं तर्हि। सः लिङ्गव्यत्ययः। तत् अथवा मण्डलमध्यस्थः पुरुषोऽभिधीयते। स आदित्यः। बुध्न्याः बुध्नमन्तरिक्षम्। बद्धा अस्मिन् धृता आप इति। तत्र भवा बुध्न्याः दिश उच्यन्ते। तथा च स्मरणम्—

ताभ्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम्॥ इति

[मनु० १।१३॥]

उपमाः। उप इत्यन्तिकनाम। परितो भूता अस्य आदित्यस्य सर्वस्य वा जगतः। सर्वस्य समीपोलब्धेः विष्ठाः विष्टभ्य स्थात्रीः। अष्टावपि दिशो विवृताः करोतीत्यर्थः। सतश्च योनिं विद्यमानस्य वस्तुनः स्तम्भकुम्भादेः योनिं असतश्च अविद्यमानस्य योनिं। वेतेर्वनिप्रत्ययान्तस्य वर्णव्यापत्यादिना योनिशब्दो निरुक्तः। योनिमवगतिं विवः विवृणोत्। व्यवृणोत् प्रकाशितवानित्यर्थः। किमिदमुच्यते। यावत् खलु भगवत आदित्यस्य तेजसा न व्याप्रियते। भुवनमण्डले तावत् सदसद्भावौ न व्यासज्येत। व्यापृते तु घटोऽस्ति न वेति वक्तव्यं भवति। अतः सत्वमसत्वं च व्यञ्जितवानित्यर्थः।

अर्थात्—सब मन्त्रों के व्याख्यान में पहले मन्त्र का ऋषि कहना चाहिए। यह ऋचा जालग्रस्त मत्स्यों की कही जाती है। नकुल इस का ऋषि है, आदित्य देवता है। यह शौनक के अभिप्रायानुसार है। घर्माभिष्टवन में इस का विनियोग है। इस मन्त्र में प्रथमपुरुष का प्रयोग है, अतः यह मन्त्र प्रत्यक्ष-कृत है।

नैरुक्तों के अनुसार सब नाम धातुज हैं, अतः धातु के अनुसार ब्रह्म का अर्थ है सब से बड़ा। वह आदित्यमण्डल है। ऐसा ही उपनिषत् में भी कहा है कि यह सब जगत् आदित्य मण्डल में स्थित है।

वह उत्पत्ति वाला और अन्य सब तेजों में प्रधान है। स्मृति में भी कहा है कि ब्राह्मण मनुष्यों में, आदित्य तेजों में, शिर अङ्गों में और सत्य धर्मों में प्रधान है। इसकी सत्ता सृष्टि से पूर्व अथवा पूर्व दिशा में, या सोते हुए प्राणियों से पूर्व संसार में, या लोकालोक पर्वत तक है। सारे संसार को देदीप्यमान करने के लिए सहस्रों रश्मियां प्रदान करता है। और जलों के स्थान अर्थात् आकाश में रहने वाली आठों दिशाओं को व्याप्त कर समस्त दृश्य पदार्थों के भावाभाव को प्रकट करता है। भगवान् सूर्य के प्रकाश के विना पदार्थों के अस्ति नास्ति का ज्ञान होना असम्भव है। प्रकाश के होते ही हम कह सकते हैं कि अमुक वस्तु है अथवा नहीं है। अतः सूर्य ही सत् और असत् को बताता है। आकाश जलों का स्थान है। यह स्मृति में भी कहा गया है। उन दो टुकड़ों से द्युलोक और भूमि बनाई गई। तथा उनके मध्य में आकाश जो कि जलों का अविनश्वर स्थान है और आठों दिशाएं बनाई गई।

परिशिष्ट ३

व्याकरणमहाभाष्य और वेदार्थ

पतञ्जलि का व्याकरण महाभाष्य ईसा से कम से कम १५० वर्ष पूर्व का ग्रन्थ है। प्रो० स्टैन कोनो के अनुसार ईसा से २२५ के पूर्व पतञ्जलि अपना ग्रन्थ लिख रहा होगा। संभव है पतञ्जलि इस से भी अधिक पुराना हो। पातञ्जल महाभाष्य में अनेक वेद मन्त्रों का अर्थ है, और कई वैदिक पदों की बनावट पर विचार करके उन पदों का अर्थ किया गया है। यह अर्थ बड़े महत्त्व का है। इस के देखने से हम जान सकते हैं कि वेदार्थ करने की कौन सी विधि पतञ्जलि को अभिमत थी। वह विधि पतञ्जलि की ही नहीं समझनी चाहिए, प्रत्युत उस का मूल पाणिनि के काल से ही होगा। पतञ्जलि और पाणिनि के मध्य में व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे गए होंगे। उन सब का निष्कर्ष व्याकरण महाभाष्य में है। फलतः महाभाष्यस्थ मन्त्रार्थ बहुत पुराने काल से चला आया होगा। पाणिनि भी बहुत पुराना व्यक्ति है। वह यास्क का समकालीन ही है। अतः प्राचीन काल से वैयाकरण लोग किस प्रकार से वेदार्थ करते थे, यह महाभाष्यस्थ मन्त्रार्थ के देखने से ज्ञात हो जाएगा।

१—चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेशेति ॥

चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। कुत एतत्। रौतिः शब्दकर्मा। महो देवो मर्त्याँ आविवेशेति। महान्देवः शब्दः।

मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः। तानाविवेश। महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

२—चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। मनस ईषिणो मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति। गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति। न चेष्टन्ते। निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। तुरीयं ह वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते। चतुर्थमित्यर्थः॥ चत्वारि॥

३—उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम्। अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम्। अविद्वांसमाहार्धम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे। तनुं विवृणुते। जायेव पत्य उशती सुवासाः। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुत एवं वाग्वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते। वाङ् नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्॥ उत त्वः॥

४—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥

सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो भवति। तितउ परिपवनं भवति। ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते। सायुज्यानि जानते। । य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के पुनस्ते। वैयाकरणाः। कुत एतत। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि

वाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद्भा-सनात्परिवृढा भवति॥ सक्तुमिव॥

५—सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।

अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयोऽनुक्षरन्ति काकुदम्। काकुदं तालु। काकुर्जिह्वा सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यथा शोभना-मूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहत्येवं तव सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामे-त्यध्येयं व्याकरणम्॥ सुदेवो असि॥

६—कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम्। ऋ० १।७६।२॥

नोनूयतेर्नोनाव।[1]

७—एकशब्दोऽयं बह्वर्थः।......अस्त्यसहायवाची। तद्यथा—

एकाग्नयः एकहलानि। एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम्। इति।

असहायैरित्यर्थः।

अस्त्यन्यार्थे वर्तते। तद्यथा—

प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका। इति।

अन्येत्यर्थः।

सधमादो द्युम्न एकास्ताः।

अन्या इत्यर्थः।[2]

८—बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति। तद्यथा। इडिः स्तुति-चोदना-याच्ञासु दृष्टः। प्रेरणे चापि वर्तते—

अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे मरुतो ऽमुतश्च्यावयन्तीति।[3]

१—१।१।५॥ भाग १ पृ० २३।

२—१।१।२४॥ १।४।२१॥ भा० १ पृ० ८३, ८४। पृ० ३२१॥

३—१।३।१॥ भा० १ पृ० २५६। ६।१।१॥ भा० ३ पृ०१४।६।१।३॥ भाग ३ पृ० ३६॥

९—सूत्र १।४।९॥ के व्याख्यान में मन्त्रों में जितने प्रकार का व्यत्यय होता है, उस के उदाहरण दिए हैं। यह सारा पाठ ३।१।८५॥ के व्याख्यान में पुनः मिलता है। इस के देखने से पता लगता है कि पतञ्जलि और उस के पूर्वजों के अनुसार व्यत्यय का क्षेत्र कितना है।

१०—अथवा भोगशब्दः शरीरवाच्यपि दृश्यते। तद्यथा—

अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्।

ऋ० ६।७५।१४॥

अहिरिव शरीरैरिति गम्यते।[1]

महाभाष्यस्थ मन्त्रार्थ के जो पूर्वोद्धृत दश उदाहरण दिए गए हैं, उन के देखने से यह प्रतीत होता है कि पतञ्जलि वैदिक पदों के धात्वर्थ को ही प्रधान मानता है। उस का अर्थ बड़ा सरल और तत्काल समझ में आने वाला है। पतञ्जलि मन्त्र के अभिप्राय तक पहुंचता है, वह उस के ऊपरि अर्थ तक ही नहीं रहता। महाभाष्य का अध्ययनविशेष करने से वेदार्थ के करने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

१—५।१।१॥ भा० २ पृ० ३४० ॥

शब्द-सूचि

मन्त्र-प्रतीक-सूची